CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मनिर्भर

म॰ म॰ डॉ॰ गोपीनाथ कविराज

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मनिर्भर

लेखकद्वय
महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज
(मूल उपदेशक)

एस० एन० खण्डेलवाल
(शब्दांकन तथा परिवर्द्धन)

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी ★ दिल्ली

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है क्रम तथा नानात्व रहित प्रतिभा। यह अन्तर्मुखीन, भेदरहित तथा चिद् स्वरूप है। इसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। प्रमाण तो बहिर्मुखी विज्ञान है। प्रतिभा को प्रमाण की क्या आवश्यकता? वह प्रमाणबन्धन से सदा उन्मुक्त है। अतएव महापुरुष का वचन प्रतिभा रूप होने के कारण शास्त्र तथा गुरुरूप प्रमाणाश्रित नहीं है। वह अपने आप में स्वतः प्रमाण, शास्त्र तथा गुरुरूप है। इसी कारण त्रिपुरारहस्य में प्रतिभा को श्री मां का परमरूप कहा गया है। श्री मां का परमरूप सतत् स्वतंत्र तथा अन्य की अपेक्षा से रहित है। अतः प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष की वाणी को ही आप्त तथा प्रमाणरूप माना जाता है।

"आत्मनिर्झर" बौद्धिक विलास नहीं है। अन्तस् से उल्लसित वर्णना क्रम है, जिसकी प्रत्येक पंक्ति अनुभूति पूर्ण ईश्वरीय प्रेरणा से ओतप्रोत है। जैसे विवेक बिन्दु तत्ववेत्ता का विशेष वरदान है, विश्लेषण वैज्ञानिक का स्वभाव है, वैसे ही दर्शन भी दार्शनिक की विशेष शक्ति है। दर्शन का अर्थ है, अपनी सत्ता की समुज्वल निरपेक्ष स्थिति में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान। यह आत्मप्रकाशन की शक्ति प्रदान करता है। इस शक्ति का धारक ही महापुरुष पदवाच्य है। वही यथार्थ दार्शनिक भी है। यथार्थ दार्शनिक जो कुछ भी सृजन करता है, वह वास्तव में आत्मप्रकाश ही है, कारण आत्मातिरिक्त तो कुछ है ही नहीं! दार्शनिक की चेतना एक प्रकार की केन्द्राभिमुखी गति है। जितने ही समुन्नत दृष्टिकोण से इसकी अभिज्ञता प्राप्त की जाती है, उतनी ही यथार्थता से यह मण्डित होती जाती ह। यह समुन्नत दृष्टिकोण जब वर्ण समूह से मण्डित होकर भाषाक्रम में प्रकट होता है, तब अव्यक्त भी जीवन्त के समान व्यक्त होकर जनमानस के सम्मुख अवतीर्ण हो उठता है।

"आत्मनिर्झर" महापुरुष, प्रतिभायुक्त दार्शनिक महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ कविराज महोदय के उपदेशों पर आधारित है। समय-समय पर डायरी में संकलित उनके उपदेशों का उपबृंहण ही "आत्मनिर्झर" में प्रतिपादित तत्व का यथार्थ रूप है। मेरी डायरी में सूत्ररूप से अंकित उपदेश बीज आज अंकुरित-पल्लवित होकर "आत्मनिर्झर" रूप वटवृक्ष का आकार ग्रहण कर रहा है। जो जिज्ञासु हैं, जिन्हें लक्ष्यरूप महापथ का किंचित् भी सन्धान प्राप्त हो चुका है, उनकी जन्मजन्मान्तर की क्लान्ति का हरण इस वृक्ष की छाया में अवश्य होगा और वे इस तरुछाया का यथार्थ आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।

निवेदक

बसन्तपंचमी, १९८९ ई०
एस. एन. खण्डेलवाल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
षट्चक्र	१
जप	१४
आकर्षण विकर्षण	१७
अधिमानस एवं अतिमानस	१८
अध्यात्मसाधना में जप एवं ध्यान	१९
आत्मतत्व एवं सृष्टिरहस्य	३२
गति	३५
व्यापक सृष्टि	३७
महाविज्ञान का उदय	४१
पुण्यक्षेत्र	४३
परमपद	५०
रस साधना	५९
सामरस्य	७६
शंकराचार्य कृत् दक्षिणामूर्ति स्तोत्र	९०
मानव जीवन की पूर्णता	९३
अवतार	९६
अखण्ड महायोग	१००
यात्रा	१०४
सूर्य चिन्तन	१०७
काली रहस्य	१०९
माया, प्रकृति तथा सृष्टि	१११
जीव का जागरण	११४
निराकार	११५

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मसंस्थित स्थिति	...	...	११६
वर्णमाला	...	...	११८
दर्शन का स्वरूप एवं विघ्न	...	...	१२०
बौद्धकाय	...	...	१२२
ध्यानतत्व	...	...	१२३
आत्मगति, आत्मा की स्थिति एवं जीव	...	...	१२५
पंचचक्षु	...	...	१३७
लीलातत्व	...	...	१३८
डाकिनीतत्व	...	...	१४१
गायत्री	...	...	१४४
राजयोग	...	...	१४६
भेदाभेद	...	...	१४९
प्रणवरहस्य	...	...	१५०
दीक्षा प्रक्रिया	...	...	१५२
कृपा एवं कर्म	...	...	१५७
पूर्ण स्वरुप प्राप्ति	...	...	१५९
शक्ति का विकासक्रम	...	...	१६१
चैतन्य तथा प्राण सम्बन्ध	...	...	१६५
गुरुतत्त्व	...	...	१६७
विविध	...	...	१७७

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

षट्चक्र

षटचक्रों के विवरण के सम्बन्ध में यह सर्वज्ञात तथ्य है कि मूलाधार चतुर्दल, स्वाधिष्ठान षट्दल, मणिपूर दशदल, अनाहत द्वादश दल, विशुद्धाख्य षोडशदल तथा आज्ञाचक्र द्विदल है। सर्वान्त में सहस्रदल की सत्ता है। सहस्र का तात्पर्य एक सहस्र कदापि नहीं है। सहस्रदल ही अनन्तदल चक्र है। इसी का आधार लेकर महाशक्ति सृष्टि विस्तार करती है। यह अवतरण की स्थिति है, तथापि तिरोधान स्थिति में इसी आधार को केन्द्र बनाकर सृष्टिलय भी होता है। जिस प्रकार से नरदेह में इन चक्रों की सत्ता है, तदनुसार ब्रह्माण्ड भी इसी क्रम में इन्हीं चक्रों का समष्टि रूप है। इसी प्रकार मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा शक्त्यण्ड पर्यन्त इन चक्रों की सत्ता विद्यमान रहती है। कारण, शक्त्यण्ड पर्यन्त शक्तिका विस्तार रहता हैं, अतः चक्रों की सत्ता भी यथोक्त प्रकार से कार्यरत रहती है। जहां शक्ति शिव में अन्तर्लीन है, वहां चक्रों की सत्ता विगलित हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जहां तक क्रम है, वहां तक चक्रों की स्थिति है और जहां क्रम की अक्रम में परिसमाप्ति हो गयी है, वहां चक्रों की सत्ता को खोज कर भी पा सकना दुःष्कर है। वास्तव में बाह्य तथा अन्तर्जगत की सन्धि पर ही चक्रों की स्थिति रहती है। नरदेह में बाह्य तथा अर्न्तजगत् की सन्धि पर चक्रों की स्थिति है, ब्रह्माण्ड में ब्रह्माण्डाभिमांनी समष्टि देवता तथा ब्रह्माण्ड की सन्धि पर ब्रह्माण्ड षट्चक्र विद्यमान है। प्रकृत्यण्ड में प्रकृत्यण्डाभिमानी समष्टि देवता तथा प्रकृत्यण्ड की सन्धि पर प्रकृत्यण्ड षट्चक्र की सत्ता अनुभूत होती है। मायाण्ड में मायाण्डाभिमानी देवता तथा मायाण्ड की सन्धि पर मायाण्ड षटचक्र विद्यमान है। इसी प्रकार शक्त्यण्ड में शक्त्यण्डाभिमानी देवता तथा शक्त्यण्ड की सन्धि पर शक्त्यण्ड षट्चक्र की सत्ता हैं। शिवस्थिति चक्रविहीन है, किंवा समस्त व्यष्टि एवं समष्टि षटचक्र उसी में समाहित हैं तथा उसी से स्फुलिंगवत् निर्गत् होते रहते हैं। शिवस्थिति में मात्र शिवचक्र रूप से शक्ति को अन्तर्लीन युगनद्ध स्थिति रहती है। यह भाषा का विषय नहीं है। यह शिवचक्र ही आद्य शिवलिंग है, जिसके ओर छोर का सन्धान ब्रह्मा तथा विष्णु अनेक कल्पों के चक्रमण के पश्चात् भी नहीं प्राप्त कर सके थे। यह आद्यन्तविहीन, स्थूल-सूक्ष्म विहीन अनन्तात्मक स्थिति है। यही वास्तविक सहस्त्रार है। इसी की बिन्दुमात्र कणिका से समस्त विश्व संचालित एवं सक्रिय होता रहता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जगत् प्रत्येक स्तर में कार्य-कारणात्मक है। क्रम एवं स्तर ही इसका स्वरूप है। यहां तक की सृष्टि क्रम में परमशिव रूप महादेव भी असंख्य देवी देवताओं के रूप में क्रमात्मक देव सृष्टि करता है। वह अविभक्त होते हुये भी असंख्य देवी देवताओं के रूप में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक देवता स्वयं में एक चक्ररूप है। वह नराकृति कदापि नहीं है। चक्र ही उसका स्वरूप है। प्रत्येक देवता के चक्र में उसकी शक्ति का ही क्रिया रूप में नर्त्तन होता रहता है। दृष्टि विशेष के अनुसार देवता आधार रूप पड़ा रहता है, और उसी आधार पर उस देवता की पुंजीभूत शक्ति ही सक्रिय रहती है। इस दृष्टि के अनुसार शिव भी सृष्टिकाल में पञ्चमहाभूतरूप में परिवर्तित हो जाता है और शक्ति ही समस्त विश्वप्रपंच का विस्तार पंचमहाभूत को आधार बनाकर करती है। इसी का प्रतीक है शिव का शवरूप (पञ्चमहाभूत रूप) में परिणत होना, जिसके वक्षस्थल पर शक्ति की नृत्यमुद्रा प्रदर्शित की जाती है। यह सृष्टि अवस्था का प्रतीक है। यही अवतरण है। सृष्टि के अवसान काल में, तिरोधान काल में, शिव पंचमहाभूतात्मक शवरूप को त्याग कर अर्थात् समस्त पंच महाभूतात्मक स्थिति को प्रविलीन करके प्रबोधित हो उठता है। (वास्तव में इसे प्रबोधन नहीं कहा जा सकता, कारण शिव स्वेच्छा से अपने अप्रतिहत् स्वातंत्र्य के कारण ही पंचभूतों का रूप धारण करता है।) वह किसी नियम से प्रतिबद्ध होकर पंचभूतात्मक आधार में परिवर्तित नहीं होता। अतः उसकी कोई अप्रबोधित अवस्था होती ही नहीं, तब प्रबोधन कैसा ? शिव का प्रबोधन अर्थात् शक्ति की अन्तर्लीनावस्था। जो शक्ति सृष्टिकाल में बाह्यतः क्रीड़ा कर रही थी, वह शिव के अन्तर्गत् विश्रान्त हो जाती है। इस अवस्था में शिव शवता रूपी पंचमहाभूतात्मक स्थिति को प्रविलीन करके, शक्ति सातत्य में मानो उद्दाम नृत्यरत् हो जाता है। यह है शिव का ताण्डव। केन्द्रापसारिणी शक्ति का केन्द्रीयकरण।

यहाँ यह स्मरणीय है कि शिव का यह ताण्डव किसी बाह्य देश में नहीं होता। शक्ति के अन्तर्लीन होने के साथ ही बाह्य अनुभूति, बाह्यसत्ता तथा देश-काल आदि का बोध भी अन्तर्लीन हो जाता है। कारण, यह सब शिवकृत् न होकर शक्तिकृत् ही है। शक्ति की स्तिमितावस्था अथवा अन्तर्लीनावस्था में इनकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं रह जाती। अतएव शिव का ताण्डव अपने आप में, अपने आपके चिदाकाश में ही होता है। इस अवस्था तक उन्नीत हुये बिना ताण्डव का अनुभव होना ही असंभव है। बाह्यता, देश तथा काल आदि के अनुभव के मूल में मात्र एक ही कारण है। आत्मस्पन्द की विस्मृति होते ही बाह्य देश तथा काल आदि का उदय होने लगता है। पुनः आत्मस्पन्द की स्मृति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथवा प्रत्यभिज्ञा के साथ-साथ देश-काल तथा बाह्यता का तत्काल ही तिरोधान हो जाता है। अध्यात्म पक्ष से इनकी कोई भी सत्ता नहीं है। मात्र विस्मृति ही उनके उदय का एकमात्र कारण है। आत्मस्पन्द में आरुढ़ होने के साथ ही चक्रात्मक स्थिति का विलोप हो जाता है। अतः समस्त चक्र, षट्चक्र आदि आत्मस्थिति का द्योतन नहीं कराते। उनसे आत्मातिरिक्त स्थिति का ही आभास प्राप्त होता है, तथापि क्रम मार्ग में चक्र समूह सोपान (सिढ़ी) का कार्य करते हैं, जिन पर आरुढ़ होकर साधक विस्मृति का विनाश करके उसे स्मृति रूप में परिणत् करने में समर्थ हो सकता है। सत्य तो यह है कि किसी भी प्रकार की साधना आत्मस्वरूप शिवस्थिति की प्राप्ति नहीं करा सकती। साधना का एकमात्र उद्येश्य है विस्मृति का विनाश अथवा देश, काल आदि में, पंचमहाभूत में, अर्थात् अनात्म में आत्मभाव का विनाश !

षट्चक्र तथा चक्रात्मक यंत्रों में समानता होने पर भी समानता नहीं है। कारण षट्चक्र सृष्टि की समग्र रचना का प्रतीक ही नहीं, यथार्थ है। जहां तक सृष्टि है, जहाँ तक भेद, भेदाभेद रूप सत्ता विद्यमान है वहाँ तक षटचक्र की सत्ता अनुभूत होती है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक शक्ति शिव के वक्षस्थल पर क्रीड़ारत है, अर्थात् जहाँ तक शिव अप्रधान तथा शक्ति प्रधान है, वहाँ तक षट्चक्र की सत्ता विद्यमान है। षट्चक्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसकी इयन्ता जीवदृष्टि से अनुभूत हो ही नहीं सकती। यहाँ तक की समष्टि दृष्टि से देखने पर भी षट्चक्र सभी स्तरात्मक सृष्टियों में विद्यमान रहता है। एतद्विपरीत देवताओं से सम्बन्धित यंत्ररूपी चक्र का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण नहीं हैं। प्रत्येक देवता सीमाबद्ध है। अपरिमेय शक्तिधारी होने पर भी देवता की सत्ता में एक सीमाबद्धता है। वहाँ देश तथा काल भी विद्यमान है। देवता से सम्बन्धित चक्र का किसी निश्चित देश तथा काल में ही आराधन अथवा प्रकाशन हो सकता है, परन्तु षट्चक्र सर्वकालिक है। सभी स्तरों में तथा स्थिति में, सभी लोकों में इसका आराधन एवं प्रकाशन होता रहता है। देवता से सम्बन्धित चक्र एवं यत्रों का आराध्य उस चक्र एवं यंत्र से सम्बन्धित देवता ही होता है। देवसत्ता आराधक के द्वैत भाव में प्रकाशित होती है। देवता आराध्य तथा साधक आराधक होता है। इन दोनों, अर्थात् आराध्य एवं आराधक के द्वैतभाव के अभाव में देवयंत्र अथवा देवचक्र की आराधना कदापि संभव नहीं है, परन्तु षट्चक्र की स्थिति अद्वय भावना रूपी सामरस्य का उदय कराती है। यहाँ आत्मदेव ही आराध्य है, जो साधना की परिणति में साधक की निज आत्मा के रूप में अद्वयरूप से प्रकाशित होता रहता है। षट्चक्र की साधना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वारा जीवबोध शिवबोध रूप में परिणत होता है, जबकि देवयंत्र अथवा देव चक्र की अराधना से साधक देवबोध के अन्तर्गत ही अनुभव प्राप्त करता रहता है। शिवबोध रूपी शिवतादात्म्य की स्थिति उससे दूर रह जाती है।

यद्यपि समस्त देववर्ग आत्मदेव शिव की ही सत्ता से सत्तान्वित हैं, तथापि यह शिव का अवरोह है। अर्थात् शिव जैसे स्वेच्छा से परिमितप्रमातृत्व का वरण करके जीव बन जाता है, वैसे ही शिव ही भिन्न-भिन्न देववर्ग के रूप में प्रकाशित होता है। इस स्थिति में अवरोह के कारण उस-उस देवता में शिव की पूर्ण शक्ति प्रकाशित न होकर आंशिक शक्ति ही प्रकाशित होती है। अतः देववर्ग द्वारा पूर्णत्व प्राप्त करने के लिये साधना का आश्रय लेने की अनेक कथायें शास्त्रों में वर्णित हैं। ब्रह्मा, विष्णु-शिव आदि उच्चस्तरीय देवताओं का भी साधना द्वारा ही परमपद पर्यन्त उन्नीत होने का प्रमाण प्राप्त होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश को पंच महाभूत कहा गया है। सृष्टि अवस्था में शिव ही पंचमहाभूत रूप में परिणत हो जाता है। इस स्थिति में मूलाधार चक्र पृथ्वीतत्व, स्वाधिष्ठान जलतत्व, मणिपूर अग्नितत्व, अनाहत वायुतत्त्व, तथा विशुद्ध आकाशतत्व है। यह शिव का ही पंचरूप है। आज्ञा-चक्र में इन पाँचों का चेतन स्वरूप तैजस स्थिति में प्रकाशित होता है। सृष्टि की ओर उन्मुख होते समय सहस्रार से होते हुये शिव आज्ञाचक्र पर्यन्त आरोह क्रम से उतरते हैं। आज्ञाचक्र विश्व एवं विश्वातीत की सन्धि है। विश्वातीत शिव आरोहक्रम से आज्ञा चक्र में स्थित होकर विश्व एवं विश्वातीत की सन्धि का अवलोकन करता है। आज्ञाचक्र में आते ही शिव की अन्तर्लीन शक्ति शक्तिचक्र का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। फलस्वरूप खेचरी, गोचरी, भूचरी, दिक्चरी, गगनचरी रूप शक्तिचक्र का प्राकट्य होता है। शक्ति जब इस प्रकार शक्तिचक्र का रूप धारण करती है, तब विश्वातीत शिव शक्ति की प्रधानता से तथा शिवता कीं अप्रधानता होने के कारण आकाशतत्वरूप विशुद्ध चक्र का स्वरूप धारण कर लेता है। तदनन्तर उत्तरोत्तर शक्तिचक्र की प्रधानता होती जाती है और विशुद्ध चक्रस्थ आकाश तत्वरूप शिव वायुतत्वरूप अनाहत चक्र का स्वरूप धारण कर लेता है। आकाशतत्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, व्यापकत्व धर्म विशिष्ट है परन्तु अनाहतरूप वायुतत्व अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में सूक्ष्म है। तदनन्तर शक्तिचक्र की प्रबलता के कारण वायुतत्व रूप शिवतत्व जडांश बहुल होते-होते अग्नितत्व युक्त मणिपूरचक्र रूप में परिणत हो जाता है। अग्नि में वायु तत्व से भी न्यून मात्रा में सूक्ष्मत्व गुण है। इसी प्रकार शक्ति चक्र की प्रबलता घटित होने के कारण अग्निरूप शिवतत्व क्रमशः जलतत्वरूप स्वाधिष्ठान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चक्र एवं सर्वान्त में पृथ्वीतत्व रूप मूलाधार चक्र में परिणत हो जाता है। यही शिव का अवरोह क्रम है। मूलाधार चक्र का उदय होते ही शिव की परिणति जीव रूप में सम्पादित हो जाती है। जीव का गुण है जन्म, स्थिति तथा मृत्युरूप परिणाम। इसके साथ ही जीव में स्वरूपबोध के स्थान पर देहात्मबोध की आच्छन्नता प्रधान गुण के रूप में परिलक्षित होती है। जीव प्रकृति सत्व, रज तथा तमस् का मिलित स्वरूप है। उसमें जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति रूप त्रिदशा का भी आविर्भाव होता है। यह समस्त त्रयी काल का हीं परिणाम है।

यह कहा जा चुका है कि शिव का अवरोह क्रम ही पंचमहाभूत की जागतिक सत्ता तथा उसके विकास का मूल कारण है। शिवता से पंचमहाभूत के आविर्भाव क्रम पर्यन्त षट्चक्र की ही क्रियाशीलता विदित होती है। साथ ही आरोह क्रम में पंचमहाभूत से लेकर शिवत्व पर्यन्त का क्रम भी षट्चक्र विकास पर ही आधारित है। सृष्टि में आने तथा पुनः असृष्टि पर्यन्त उपनीत हो सकने के लिये शिव भी इसी का अवलम्बन लेता है। आलोचना प्रसंग में हम ब्रह्माण्ड की यथार्थ धारणा नहीं कर सकते। ब्रह्माण्ड की सीमा तक हमारी धारणा शक्ति वर्त्तमान स्थिति में नहीं पहुँच सकती। इस परिस्थिति में ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म अनुकृति इस मानव देह को आधार बनाकर षटचक्र की स्थिति को किंचित परिमाण में समझा जा सकता है। वास्तव में सहस्त्रार ब्रह्माण्ड की सीमा से, उसकी परिधि से, परे की स्थिति है। इसी प्रकार सहस्त्रार भी मानव देह के अन्तर्गत कदापि नहीं है। कारण यह देहात्मबोध से परे की स्थिति है। अतएव इसे मानव देह के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसी कारण बुद्ध तथा महावीर की प्रस्तर प्रतिमाओं में सहस्त्रार रूपी विकास को शिर के ऊपर घुँघराले केशों के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मानव देह के शिर के उपर स्थित शून्य में इसकी स्थिति है। यह शून्य अनन्त का प्रतीक है। अतः सहस्त्रार मृत्यु से परे अमरत्व का स्थल है। यहाँ शिव शिवता से विच्छिन्न न रहकर पूर्णाहंभाव में लीन रहता है।

सहस्त्रार के अनन्तर आज्ञाचक्र की सत्ता कही जाती है। आज्ञाचक्र की स्थिति देहान्तर्गत हीं है, तथापि यह देह के उर्ध्वतन स्तर में स्थित है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि योग की दृष्टि से आज्ञाचक्र भ्रूमध्य में स्थित कहा जाता है। यह मत भी एक प्रकार से उचित है। योग दृष्टि से सहस्त्रार शिर में स्थित है। अर्थात् वह भी मानव देह के ही अन्तर्गत माना गया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि योग की भित्ति ही शरीर है। अतः योगीगण स्थूल देहान्तर्गत षट्चक्र की जो भावना करते हैं तथा जिस-जिस स्थान पर उसकी स्थिति को प्रतिपादित करते हैं, वह उनके दृष्टिकोण से उचित है। पहले कहा जा चुका है कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

षट्चक्र की सत्ता प्रत्येक स्तर में विद्यमान है। इस सिद्धान्त के अनुसार योगियों द्वारा वर्णित स्थूल देहस्थ षट्चक्र की भी सत्ता यथार्थ है, परन्तु सूक्ष्म ही स्थूल का कारण है, इस सिद्धान्त की भी अहवेलना करना उचित नहीं। अतएव स्थूल षट्चक्र की पृष्ठभूमि में सूक्ष्म षट्चक्र की सत्ता को मानना ही पड़ेगा। योगी के लिये योगमार्ग द्वारा परिभाषित षट्चक्र ही उपादेय है, परन्तु महायोग मार्ग के पथिक के लिये सूक्ष्म षट्चक्र का अवलम्बन आवश्यक एवं उपादेय है। महायोग पथ में शरीर रूपी ब्रह्माण्ड के उत्स से साधना प्रारंभ की जाती है। महायोगी की साधना ब्रह्माण्ड भेद पर्यन्त ही सीमित नहीं रहती। उसे ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड, शक्त्यण्ड प्रभृति में व्याप्त प्रत्यक षट्चक्र का भेदन करना पड़ता है। उत्तरोत्तर षट्चक की स्थिति सूक्ष्म होती जाती है। सर्वान्त में शक्त्यण्ड भेद के साथ-साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म षट्चक्र की सत्ता भी शिवपद में विलीन हो जाती है। उस स्थिति में न तो साधक ही अवशिष्ट रहता है, न षट्चक्र। शेष रह जाता है एकमेव शिवपद !

सूक्ष्म षट्चक्र साधन मार्ग में आज्ञाचक्र वहाँ स्थित है, जिसे योगीगण सहस्रार का स्थान बतलाते हैं। योगमार्ग के अनुसार शिर क अन्दर जो मस्तिष्क का स्थान है, वही सहस्रार है। परन्तु सूक्ष्म षट्चक्र साधना के अनुसार यह सहस्रार न होकर आज्ञा चक्र है। यहीं से आज्ञा अर्थात् निर्णय का कार्य होता है। मस्तिष्क ही निर्णय लेता है और तदनुसार क्रिया अधःस्थ अगप्रत्यगों को संचालित करती है। यही यथार्थ आज्ञा चक्र है। गायत्री मत्र में "धीयो यो नः प्रचोदयात्" के द्वारा इसी स्थान पर बुद्धि मे प्रकाश हेतु प्रार्थना की जाती है। यही तृतीय नेत्र का भी स्थान है। तृतीय नेत्र का स्वरूप आखों के समान नहीं है। सत्य से उद्भासित प्रज्ञा ही तृतीय नेत्र है। देवसत्ता में हमारे नेत्रों के समान आखें नहीं होता। वे इसी तृतीय नेत्र अर्थात् उद्भासित प्रज्ञा द्वारा ही निरीक्षण करते हैं। इसक मन और बुद्धि रुप दो दल है। आज्ञाचक्र के द्विदलत्व का यही रहस्य है। मस्तिष्क ही बुद्धि और मन का स्थान है। यद्यपि योगीगण भ्रूमध्य में मन की स्थिति का संकेत देते हैं, तथापि भ्रूमध्य में ऐसा कोई यंत्र अथवा अवयव नहीं है। वस्तुतः मस्तिष्क ही बुद्धि और मन, दोनों का धारक होने के कारण यथार्थ द्विदल रुप है और यही प्रकृत आज्ञाचक्र सिद्ध होता है। बुद्धि तथा मन, दोनों आज्ञारुपी निर्णय का संचार करते हैं। इस कारण यही प्रकृत आज्ञाचक्र है।

आज्ञाचक्र के अनन्तर विशुद्ध चक्र की स्थिति है। विशुद्ध चक्र आकाशरुप है। पंचमहाभूत के अन्तर्गत् आकाश तत्त्व सर्वोपरि तत्त्व है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वास्तव में पृथ्वी तत्त्व स्थूलातिस्थूल है। पृथ्वी की तुलना में आकाश तत्त्व सूक्ष्मतम है। इसमें स्थूलत्व प्रायः परिसमाप्त हो जाता है। इसीलिये इसे पंच-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

महाभूत की चरमसीमा भी कह सकते हैं, तथापि यह जड़ाकाश है। चेतनाकाश नहीं है। चेतनाकाश की सत्ता आज्ञाचक्र से प्रारंभ होकर सहस्रार में अनन्तरुप हो जाती है। अतएव इस जड़ाकाश में जड़त्वरुपी स्थूलत्व रहने से विशुद्धचक्र पर्यन्त देहात्मबोध विद्यमान रहता है। विशुद्ध चक्र षोडशशदल युक्त है। योगीगण इसे कण्ठदेशस्थ कहते हैं, परन्तु महायोग धारा के अनुसार यह कण्ठदेशस्थ कदापि नहीं है। चेतन आकाश का गुण है अनाहत नाद, परन्तु जड़ाकाश का गुण है शब्द। शब्द अनाहत नहीं होता। वह आहत होता है। अर्थात् वह प्रहारगत प्रक्रिया से उद्‌भूत् होता है। अतएव यह कर्णकुहरस्थ सिद्ध होता है। अनाहत नाद चेतन आकाश का गुण है। चेतन आकाश की ही छाया है जडाकाश। इस कारण कर्ण कुहर को उंगलियों द्वारा बन्द करने पर, अर्थात् बाह्यजगत से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न कर देने के उपरान्त चेतन आकाश से उः रहे अनाहत नाद का किंचिद् प्रकम्प अथवा स्पन्दन कर्ण कुहरों में भी सागर गर्जना के समान श्रवण गोचर होने लगता है। जड़ाकाश रूपी विशुद्ध चक्र में उठ रहे इस नाद का कारण है चेतनाकाश में अनुगुंजित अनाहत नाद। अतएव विशुद्ध चक्र ही मंत्रस्थल है। यथार्थं मंत्रस्थल आकाश ही है। यही कारण है कि गुरु भी दीक्षा काल में कानों में ही दीक्षामंत्र का उच्चारण करता है। अर्थात् उस समय गुरु शिवभाव युक्त होकर, शिवसमावेशस्थ होकर चेतनाकाशरूप से मंत्र का उच्चारण शिष्य के जड़ाकाश में करता है। इससे शिष्य का विशुद्ध चक्रस्थ जडाकाश स्पन्दित होने लगता है। कालक्रम से वह पूर्ण चेतनाकाश का रूप ग्रहण कर लेता है। इसे ही शिष्य का प्रबोधन करते हैं। इस ालोचना से यह सिद्ध हो जाता है कि यथार्थ विशुद्ध चक्र कर्ण देशस्थ है।

विशुद्ध चक्र षोडशदल युक्त है। षोडश स्वर ही षोडश दल हैं। अ स अः पर्यन्त षोडश स्वर का समवेत उच्चारण ही नाद है। यह नाद वैंखरी रुप नहीं है। मध्यमा भूमि से एक अखण्ड स्वर का १६ रुपों में विभाजन होता है। यह विभाजन ही वैंखरी है। यह वैखरीरुप विभाजन वायु के कारण होता है। जैसे वायु अपने वेग से बादल को छिन्न-भिन्न कर देती है, इसे भी वैसा ही जानना चाहिये। १६ स्वरों का यह वायुजनित विभाजन व्यञ्जनों के रुप में अनुभूत होने लगता है। इसी कारण वायु भी ४९ है। वायु सर्वव्यापक है। यहाँ तक कि जडाकाशरुपी अवकाश में भी वायु की सत्ता रहती है। अर्थात् विशुद्ध चक्र में भी वायु की सत्ता रहती है, तथापि विशुद्धचक्रस्थ वायु अविभक्त वायु है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में वायु अपने जनक आकाश से विविक्त नहीं होता। आकाश में अन्तर्लीन सा रहता है। यही कारण है कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विशुद्ध चक्रस्थ षोडशस्वर विभक्तावस्था में विद्यमान न रह कर नादरुप में स्थित रहते है। विशुद्ध चक्र से वायु का उदय होता है और वह अनाहत चक्र में अपना पूर्णरुप प्राप्त करता है। इसकी संज्ञा अनाहत क्यों है ? यह प्रश्न उत्थित होना स्वाभाविक है। इसका समाधान यह है कि वायु अपसे पूर्वरूप में आकाश में अन्तर्लीन रहता है। आकाश शून्य रुप है। शून्य में कौन किसे आहत करेगा ? अतः उस भूमिका से आविर्भूत वायु में भी अनाहतत्त्व विद्यमान है। वह किसी आहनन रूप प्रक्रिया से आविर्भूत नहीं है, वरन् उसमें यह सामर्थ्य है कि अपने से निम्नस्तरीय तत्त्व यथा अग्नि, जल तथा पृथ्वी का आहनन करने में समर्थ है और उसे चलनशील बना सकता है। आकाश तत्त्व विशुद्ध चक्र से जीवसृष्टि की सूचना नहीं मिलती। आकाश तत्त्व भावी जीवसृष्टि के लिये अवकाश (स्थान) प्रदान करता है। उस स्थान (अवकाश) में वायु आकर उसमें गति प्रदान करता हैं। समस्त जीवजगतस्थ गतिशक्ति का कारण वायु है। अतएव जनाहत चक्र से ही जीवसृष्टि की सूचना का संकेत प्राप्त होता है। वायु सर्वव्यापक है। इतनी व्यापकता मात्र आकाश में है, परन्तु आकाश का अनुभव शक्य नहीं है। अनुभव का प्रारंभ होता है वायु से। वुद्धि में भी जिस विचार तरंग का प्रवाह होता रहता है, वह भी वायु द्वारा ही प्रवाहित है। यह एक प्रकार का स्पर्श है। शरीरगत अवयव, नस, नाड़ी प्रभृति स्पर्श प्रधान हैं। स्पर्श शक्ति समस्त जीव देहों में प्रवाहित होती रहती है। शरीर के बाहर विश्व में भी सब कुछ स्पर्श शक्ति से ही अनुभूत होता है। नेत्र भी वस्तु का स्पर्श करते हैं। अर्थात् वस्तु से हो रहा प्रकाश परावर्त्तन नेत्रों का स्पर्श करता है। वह स्पर्श संवेदन मस्तिष्क केन्द्र तक पहुँच कर वस्तु के आकार आदि का ज्ञान कराता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्पर्शशक्ति ही विश्व क्रीड़ा के संचालन का मूल कारण है। चन्द्र सूर्य की किरणे भी इस विश्व का स्पर्श करके उसे जीवनदान देती हैं। अन्तरिक्षगत् नानाशक्ति समूह, किरणें आदि स्पर्श द्वारा ही जीव जगत को प्रभावित करती रहती हैं। अतएव वायु स्पर्शशक्ति के रुप में व्यापकतम क्षेत्र में उपस्थित है।

इस परिस्थिति में यह सिद्ध होता है कि व्यष्टि देह तथा समष्टि जगत् की गतिमयता में अनाहत ही कारण है। यह अनाहत "योग" की दृष्टि से हृदय देशस्थ है, परन्तु महायोग की दृष्टि से अनाहत् की सत्ता शरीर व्यापी है। अनाहत् द्वादश दल युक्त है। वायु का विभेद दस माना गया है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, कूर्म देवदत्त, कृकल, धनन्जय, प्रभृति दश वायु (प्रधानवायु) तथा उसके दो गुण संकुचन तथा प्रसारण यह मिलाकर अनाहत का द्वादशदलत्व

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। रोमरोम से वायु की संकुचन तथा प्रसारण, क्रिया चल रही है, परन्तु इनका अनुभव नहीं होता। महाशक्ति की इस महाक्रिया का सम्पूर्ण शरीरव्यापी अनुभव ही अनाहत चक्र की सिद्धि है। यह महाक्रिया स्पर्शरूप से अनुभूत होती है। शरीरस्थ त्वचा में यह स्पर्शगुण सन्निविष्ट है, अतः समग्र शरीर का बाह्य आवरण ही अनाहत चक्ररूप अनुभूत होता है। वायु जिस प्रकार ब्रह्माण्ड व्यापी है, उसी प्रकार शरीर व्यापी भी है। इसे कारण इस केवल हृदय प्रदेश (भौतिक हृदय) पर्यन्त सीमित करके उसे ही अनाहत चक्र की संज्ञा प्रदान करना महायोग के दृष्टिकोण से कथमपि उचित नहीं है। वायु व्यापक है तथा वह स्पर्श गुण युक्त है। स्पर्श शक्ति के अभाव में विश्व तथा देह, दोनों का ही अस्तित्व विलीन होकर आकाश में निमज्जित हो जाता है। यही कारण है कि योगीगण प्राणादि वायु का ही आश्रय लेकर आप्तकाम होते हैं। यहाँ भी यह ज्ञातव्य है कि योगी का आश्रय प्राणादि वायु है, परन्तु महायोगी वायु का आश्रय नहीं लेता। वह वायु के गुण स्पर्श रूपी स्पन्द का अनुभव करने में समर्थ होता है। स्पर्श का स्पन्द ही आनन्दोन्मेष का कारण है। वायुचक्र-अनाहत की यथार्थ सिद्धि से ही आनन्दोन्मेष होता है। विशुद्ध चक्र आनन्दोन्मेष से परे की, पूर्णानन्द की अनुभूति है। कारण आकाश पूर्णरूप है। आज्ञाचक्र निरालम्ब एवं निरानन्द रूप है। सहस्रार में निरानन्द एवं निरालम्ब स्थिति भी अन्तर्लीन हो जाती है। यही चरम स्थिति है।

अवरोह क्रम में अनाहत के अनन्तर मणिपूर चक्र की स्थिति है। योगधारा के अनुसार मानव देह में यह नाभिस्थ चक्र है। महायोगधारा का सिद्धान्त है कि मणिपूर चक्र तेजगुण युक्त है। रूपदर्शन तेजगुण के प्रभाव से ही होता है। महायोग की दृष्टि से नाभिचक्र में तेजतत्त्व का स्थूलरूप ही विद्यमान है परन्तु उसका सूक्ष्म एवं क्रियात्मक रूप नेत्रों में विद्यमान है। नेत्र ही तेजगुण की सत्ता से रूप दर्शन करते हैं। नाभि से रूपदर्शन नहीं होता। नेत्र ही साधना से ज्योतित होते हैं। नेत्र की दृष्टि शक्ति को नेत्रज्योति कहा जाता है। इस प्रकार नेत्रों का तेजतत्त्व प्रधान होना सिद्ध हो जाता है। नेत्रद्वय और मणिपूर चक्र की सत्ता एक ही है। यहाँ यह विशेष रूप से उपलब्धि होती है कि जैसे मणिपूर चक्र दशदल युक्त है, वैसे ही नेत्र भी दसो दिशाओं का अवलोकन कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं, और यही मणिपूर चक्र का दशदलत्व है। वायु मात्र स्पर्शगुणयुक्त है परन्तु मणिपूर चक्र तक आते-आते वह तेजतत्त्व के रूप में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में नेत्र रश्मि वस्तु का स्पर्श करके जहाँ एक ओर अपने कारणभूत वायु के गुण को धारण करती है, वहीं नेत्रद्वय उस स्पर्शानुभूति को साकार दृश्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप में अनुभूत करने लगते हैं। अनाहत स्थिति में आकाश रूप विशुद्ध चक्र अपने गुण शब्द को घनीभूत करके स्पर्शरूप में अनुभूत कराता है। मणिपूर चक्र स्थिति में अनाहत अपने गुण स्पर्श को घनीभूत करके रूपसत्तात्मक दृश्यानुभूति में परिणत कर देता है। शिव ही विशुद्ध चक्र में शब्दाश्रय, आकाश रूप से अवतीर्ण होकर क्रमशः अनाहत तथा तेजरूप मणिपूर का स्वरूप धारण करता है।

इस प्रकार अवरोहक्रम से उतरते-उतरते शिव मणिपूर चक्र में तेजरूपता द्वारा दृष्टि शक्ति का विकास करने के उपरान्त आस्वादन प्रधान जलतत्त्वरूपी स्वाधिष्ठान का रूप ग्रहण करता है। विषयवस्तु के दर्शनोंपरान्त उसके आस्वादन की इच्छा जाग्रत होती है। यदि द्रष्टा बना रहे, उस अवस्था में अवरोह क्रम भंग हो जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे निर्वात दीपक की ज्वाला ऊपर ही उठती है, उसी प्रकार तेज तत्त्व का आश्रय लेने से, अर्थात् निरपेक्ष द्रष्टा रूप में दृश्यावलोकन करते रहने स व्यष्टि सत्ता का बोध उर्ध्वगामी होने लगता है। बोध की उर्ध्वगामिता के साथ-साथ अवरोहक्रम का भंग होना स्वाभाविक है। अब बोध स्वधिष्ठान चक्र की सृष्टि करके विषयरस का आस्वादन नहीं कर सकता। वह मणिपूर से ऊपर की ओर, अनाहत की ओर, आरोहण करने लगता है। सृष्टि काल में आस्वादन की आवश्यकता मानी गयी है। अतः अवरोह क्रम में मणिपूर चक्रस्थ रूपदर्शन की स्थिति निरपेक्ष द्रष्टा की स्थिति न हो सके, इस अभिप्राय से स्वाधिष्ठान चक्र का आविर्भाव होता है। यद्यपि योगधारा के अनुसार स्वाधिष्ठान चक्र को नाभि प्रदेश क नीचे जननेंद्रिय स्थान के निकट माना गया है, तथापि महायोग धारा के अनुसार इसका स्थूल एवं सूक्ष्म दो भेद मानते हुये, इसकी अन्यत्र स्थिति को प्रमाणित किया गया है। इस प्रसंग में यह तथ्य अंकित करना आवश्यक है कि जल तत्त्व के प्रादुर्भाव के साथ-साथ चित्त विषयाकार होने लगता है। चित्त का विषयाकार होना और सृष्टि में जीवाविर्भाव होना, एक प्रकार की ही क्रिया तथा एकरूपतामय स्थिति है। सृष्टि के आदि में यह पृथ्वी भी तेजतत्त्व से ओतप्रोत थी। वह लाल अङ्गारे के समान थी। तदुपरान्त दीर्घकालीन वर्षा की स्थिति उत्पन्न होने के पश्चात् इस धरा पर उद्भिज, वनस्पति रूप जीवन का आविर्भाव हो सका था। इससे यह तथ्य सम्पुष्ट होता है कि जीवन के अविर्भाव एवं उन्मेष में जलतत्त्व ही प्रधान कारण है। जीव का स्वरूप है, विषय वस्तु के आस्वादन की इच्छा। जो विषय वस्तु का आस्वादन न करके उसका निरपेक्ष द्रष्टा रहता है, वह जीव नहीं अपितु योगी है। यह स्थिति तेजतत्त्व में ओतप्रोत होने से प्राप्त होती है। एतद्विपरीत जिस समय तेजतत्त्व अवरोह की स्थिति में निम्नगामी होकर क्षरणावस्था में जलतत्त्व रूप हो जाता है, उसी समय आस्वादन की क्षमता प्रारंभ होने लगती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। यही स्वाधिष्ठान चक्र का स्वरूप है। शास्त्रों के अनुसार स्वाधिष्ठान षट्दल है। स्वाद भी छ प्रकार के होते हैं। आस्वादन के छ रूप ही इसके छ दल हैं। ये ही देह रस के कारक है। आयुर्वेद के अनुसार रस से इन्द्रियां पुष्ट होती है और रस द्वारा पुष्ट अवयव ही विषय वस्तु का आस्वादन करने में समर्थ होते हैं। इस स्थिति में शिव ही आकाश, वायु, अग्नि तत्त्व रूप होते-होते जलतत्व में परिणत हो जाता है। आरोह क्रम में जलतत्त्व के गुणों को गौण करने के लिये जप का आश्रय लेना आवश्यक है। जप से तेजतत्त्व की वृद्धि होने लगती है, और स्वाधिष्ठान का आभास विगलित होकर मणिपूर रूपी तैजस में समाहित हो जाता है। "जपात् सिद्धीः" उक्ति वस्तुतः सत्य है। सिद्धि का यथार्थ तात्पर्य है चेतना का उर्ध्वगमन। जप के प्रभाव से चेतना स्वाधिष्ठान की सत्ता का विगलन करते हुते उर्ध्वस्तरीय एवं तैजसरूप मणिपूर की ओर अग्रसर होने लगती है। उसमें निम्नगामिता के स्थान पर उर्ध्वगामिता का आकर्षण सन्निविष्ट हो जाता है। यहां उर्ध्व एवं निम्न का तात्पर्य ऊपर एवं नीचे नहीं है। उर्ध्व का तात्पर्य है सूक्ष्मत्व तथा निम्न का तात्पर्य है स्थूलत्व। आकाश की तुलना में वायु स्थूल है, वायु की तुलना में अग्नि अपेक्षाकृत अधिक स्थूल है। अग्नि से जल का स्थूलत्व और भी अधिक है तथा पृथ्वी सर्वापेक्षा पूर्णतः स्थूल है। यह यात्रा, अर्थात् आकाश से पृथ्वी की ओर, उत्तरोत्तर स्थूलत्व की ओर की यात्रा निम्नगामिता है और पृथ्वी से आकाश की ओर की यात्रा को ही उर्ध्वगामिता की संज्ञा प्रदान की गयी है।

आकाश का न तो अनुभव है न ही उसका दर्शन स्पर्शादिक सम्भव हैं। चेतनावस्था में वही जड़रूप है। द्रष्टा की स्थिति के तारतम्य से वह भी तद्रूप हो जाता है। इस कारण आकाश को सूक्ष्मता की चरम सीमा कहते हैं। वायु का दर्शन सम्भव नहीं है। उसका स्पर्शानुभव मात्र होता है, वह तदपेक्षा स्थुल है। तदनन्तर अग्नि से, तैजस से ही दृश्यता का प्रारम्भ होता है, इसी कारण यही रूप का कारण है। जल रस रूप है। यही स्वाधिष्ठान है। विषय के साथ प्रत्यगात्मा का सम्पर्क एवं तद्रूपता यहीं से प्रारम्भ होती है। रसयुक्त में ही जीवात्मा रमण करता है। रसहीन प्रतीत होनेवाली स्थिति से जीवात्मा दूर भागता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जलतत्त्वरूप स्वाधिष्ठान ही संसक्ति, आसक्ति का कारण है। जलतत्त्व को एक आधार की आवश्यकता पड़ती है। आधार रहित जलतत्व की कोई स्थिति ही नहीं है। जैसे अग्नि की ज्वाला सर्वदा ऊपर की ओर उठती है, वैसे ही जल की धारा सदैव नीचे की ओर प्रवाहित होती है। अतः मणिपूर चक्र की धारा उर्ध्वधारा है और स्वाधिष्ठान की धारा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निम्न धारा रूप सिद्ध हो जाती है। जल स्वतः उर्ध्वोत्थित नहीं हो सकता। वह निम्नगामी ही रहता है, परन्तु अग्नि सदा उर्ध्वोन्मुखी रहती है। वह स्वतः निम्नोन्मुखी नहीं हो सकती। यही कारण है कि ऋग्वेद् की प्रथम ऋचा में अग्नि की महिमा का गायन करते हुये उसे "पुरोहित" (आगे चलने वाला) कहा गया है। यह प्रकारान्तर से मणिपुर चक्र का ही स्तवन है। पुरोहित का तात्पर्य है कि वह यजमान को स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर अग्रसर करने वाला पथ प्रदर्शक है। इस प्रकार मणिपूर ही वह केन्द्र है, जहाँ से दिव्य स्तर की ओर जाने का मार्ग प्राप्त होता है।

जल की स्थिति किसी आधार के बिना संभव नहीं है। अतएव शिव अवरोह-क्रम से जलरूप स्वाधिष्ठान में परिणत होते ही अपने आधाररूप मूलाधार की सृष्टि करता है। यही पृथ्वीतत्व है, जो सर्वाधिक स्थूल है, और शिव के अवरोह-क्रम की चरम परिणति एवं आधार है। शिव का शास्त्रों ने लिंग स्वरूप भी माना है। "आकाश लिंगमित्याहु पृथ्वी तस्यपीठिका" उक्ति सर्वप्रसिद्ध है। अरूप शिव का साकार विग्रह है शिवलिंग। इसका सर्वोच्च शिखर है आकाश, जो पृथ्वी रूपी पीठिका पर आधारित है। पीठिका ही आधार प्रदान करती है। इसका तात्पर्य यह है कि आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के ५ तत्व ही शिवलिंग रूपी शिव के साकार विकास के प्रतीक हैं। इसका यह भी अर्थ है कि विशुद्ध चक्र से लेकर मूलाधार चक्र पर्यन्त के ५ चक्रों से शिवलिंग के तत्व को हृदयंगम किया जा सकता है। शिवलिंग विश्व विकास का यथार्थ प्रतीक है। तथापि यह आद्य शिवलिंग नहीं है। आद्यशिवलिंग का स्वरूप ज्योतिर्लिंग है। वह शिव का अपरूप रूप है। उसे ही शिवचक्र कहते हैं।

इस प्रकार जलतत्त्व रूपी स्वाधिष्ठान को स्थितिमत्ता प्रदान करने के लिये मूलाधार रूपी पृथ्वीतत्त्व का आधार निर्मित हुआ है। जिस मूल आधार से जीवसत्ता को पार्थिवांश प्राप्त होता है, वही मूलाधार है। मूलाधार के गठन के साथ-साथ व्यष्टि देह का तथा समष्टि में ब्रह्माण्डस्थ आधाररूप पृथ्वीतत्त्व का गठन पूर्ण हो जाता है। समष्टि में जहां-जहां "भू" आधारतत्व विद्यमान है, उसमें पृथ्वी तत्व का ही समावेश है। व्यष्टि रूपी नरदेह में भी चतुर्दल मूलाधार की स्थिति को योगियों ने स्वीकृति प्रदान की है। योगशास्त्र के अनुसार यह चतुर्दल रूप में मेरुदण्ड के निम्नस्थ प्रदेश में स्थित है, परन्तु महायोग के दृष्टि-कोणानुसार इसकी स्थिति अन्यत्र है। कारण, पृथ्वीतत्व का गुण है गंध। गंधग्रहण कार्य इस शरीर में नासिका द्वारा ही होता है। गंधरूप सत्ता ही मूल पृथ्वी तत्व है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतः वाम एवं दक्षिण नासापुट का अग्रभाग ही यथार्थ मूलाधार कहा जा सकता है। दोनों नासापुटों से श्वास का गमन एवं आगमन, इनकी संख्या ४ होती है। यही मूलाधार के चारदल हैं। यह श्वास एवं प्रश्वास ही मानव देह का आधार है। इसी आधार पर मानव की सत्ता जन्म से मरण के मध्य में गतिशील रहती है और इस आधार के विलीन होते ही मानव की गतिमयता समाप्त हो जाती है। अतएव यही प्रकृत मूलाधार है।

योग शास्त्रोक्त षट्चक्र में तथा महायोग में वर्णित षट्चक्र में मूल भेद विद्यमान है। योगशास्त्रोक्त षट्चक्र वस्तुतः पंचतत्व पर आधारित है, अर्थात् वे मूलभूत तत्त्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश के स्थूल रूप पर विद्यमान हैं। महायोगोक्त षट्चक्र पञ्चतत्त्व के स्थूल रूप पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश पर आधारित न होकर उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुण पंचतन्मात्रा पर आधारित हैं। अतः पृथ्वी का गुण गंध, जल का गुण रस, तेज का गुण रूप, वायु का गुण स्पर्श तथा आकाश का गुण शब्द ही महायोगोक्त षट्चक्र का आधार है। सृष्टि के जिस स्तर में पंचमहाभूत की सत्ता नहीं है, वहाँ भी पंचतन्मात्रा की अवस्थिति है। जैसे ज्योतिर्मय लोक समूह में पंचमहाभूत विद्यमान नहीं हैं, तथापि वहाँ दिव्यगंध, दिव्यरस, दिव्यतेज, दिव्य स्पर्श तथा दिव्य शब्द की सत्ता विद्यमान रहती है। अतएव महायोगोक्त षट्चक्र का सम्पर्क सूत्र ज्योतिर्मय लोकों से रहता है, जबकि योगोक्त षट्चक्र पंचमहाभूत प्रधान होने के कारण पार्थिवतत्त्व प्रधान लोकों से ही सम्बद्ध रहते हैं। यही कारण है कि महायोग प्रणाली के षट्चक्रों का अवलम्बन करने से देहात्मबोध यथाशीघ्र विगलित होकर दिव्यबोध में परिणत हो जाता है। पंचमहाभूत जडांश बहुल है, पंचतन्मात्रा चेतनांश बहुल है। इस कारण महायोग पथ का पथिक प्रारंभ से ही चेतनांश सम्पर्क से, चिति के स्पर्श से आप्यायित रहता है। योगपथ के पथिक को जड़ांश बहुल आधार पर आरुढ़ होकर साधना करने के लिये विवश होना पड़ता है। यही कारण है कि अधिकांश योगीगण जड़ समाधि में आबद्ध हो जाते हैं। इस अवस्था में उन्हें कल्पान्त पर्यन्त पड़े रहकर उच्चस्तरीय कृपा की प्रतीक्षा करनी पडती है। महायोग पथ के पथिक का प्रारंभ से ही चेतन सम्पर्क रहता है। अतः उनकी लौकिक साधना की परिणति चेतन समाधि रूप में होती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जप

जप साधना में भी महायोगोक्त षट्चक्र की उपादेयता असंदिग्ध है। योगमार्गोक्त षटचक्रों द्वारा जप संभव नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि योगमार्गोक्त षट्चक्र जडांश बहुल पंचमहाभूत पर आधारित हैं। योगमार्गोक्त षटचक्र में से केवल मात्र आकाश तत्व प्रधान विशुद्ध चक्र द्वारा ही जप संभव है, क्योंकि विशुद्ध चक्र कण्ठ देशस्थ है। इतने पर भी इस विशुद्ध चक्र से जपा मन्त्र चेतन रूप नहीं हो सकता। इसके लिये अत्यन्त दीर्घकाल पर्यन्त जप साधना करनी पड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि कंण्ठदेशस्थ योगशास्त्रोक्त विशुद्ध चक्र जड़ाकाश प्रधान है। इसमें जड़त्व की बहुलता है, अत: उससे जपा मन्त्र भी जड़त्वांश बहुल होकर पड़ा रह जाता है। महायोगोक्त षट्चक्र जडांश बहुल न होकर चेतनांश बहुल हैं, अतएव उसके आधार पर जप साधना की प्रतिष्ठापना चेतनांश बहुल होने के कारण अनायास उर्ध्वगामिनी हो जाती है। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि महायोगोक्त षटचक्र का आधार सूक्ष्म है। उसका आधार पंचमहाभूतरूप स्थूल तत्व नहीं है। सूक्ष्मतत्व अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है और उसकी गति भी व्यापक होती है। जैसे तीव्रगामी वाहन पर आरूढ़ होकर गन्तव्य स्थल पर शीघ्र पहुंचा जा सकता है, उसी प्रकार सूक्ष्म एवं अप्रतिहत गतियुक्त षट्चक्र का आश्रय ग्रहण करने से जप साधना शीघ्र सफल हो सकती है।

जप साधना हेतु महायोगोक्त षटचक्र में सर्वप्रथम मूलाधार चक्र का आश्रय लेना आवश्यक है। मूलाधार ही जप साधना की भित्ति है। इस स्थान पर जप बीज का (मन्त्र बीज) वपन करना चाहिये। बीज का वपन कार्य आधार रूप पृथ्वी में ही होता है। इसी कारण मूल आधार रूप विन्दु में मन्त्र बीज की स्थापना की जाती है। जिस श्वास प्रश्वास रूप आधार से मनुष्य देह की जीवन्तता की सूचना मिलती है, वही यथार्थ मंत्राधार है। लक्ष्य करने पर ज्ञात होता है कि नासापुटों के अग्रभाग से अर्थात् नासिका के बाहर द्वादश अंगुल अवकाश से श्वास उठकर नासापुटों के माध्यम से शरीर के भीतर प्रवेश कर रही है, तत्पश्चात् नासापुटों के माध्यम से प्रश्वास निकलकर उसी द्वादश अंगुल व्यापी अवकाश में समाहित हो रहीं है। इसे द्वादशान्त विन्दु कहते हैं। इसी द्वादशान्त विन्दु पर मन्त्र बीज की स्थापना करनी चाहिये। इस प्रक्रिया से वह मन्त्र बीज चेतना सम्पर्क में आने से जाग्रत हो उठता है। इसका कारण यह है कि जो चेतना स्त्रोत द्वादशान्त विन्दु से उठकर नासापुटों द्वारा श्वास के रूप में शरीराभ्यन्तर में जीवन चेतना का प्रादुर्भाव कर रहा है, वह अत्यन्त जीवंत है। उसके सम्पर्क मात्र से, संस्पर्श से मन्त्र बीज जाग्रत होने लगता है। इस प्रकार महाशक्ति चिति का यह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीवन्त संस्पर्श मन्त्र को जीवन्त बना देता है और साधक मन्त्र जागृति के भीषण प्रयत्न से बच जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब श्वास के माध्यम से मन्त्र बीज को अन्तंजगत् में प्रविष्ट कराते हैं, उस स्थिति में प्रश्वास के माध्यम से क्या वह बहिर्गत नहीं हो जाता ? इसका उत्तर यह है कि जो चेतना स्त्रोत श्वास के माध्यम से शरीरान्तर्गत् प्रविष्ट होता है, वह बाहर नहीं आता। जो स्त्रोत बाहर आता है, वह चेतना स्त्रोत नहीं है। स्पन्द भीतर जाता है और जाड्यतम बाहर आता है। चेतना एवं जड़ता का यह द्वंद्व अहर्निश चलता रहता है। अतः मंत्रबीज के श्वास के माध्यम से भीतर प्रविष्ट होने के पश्चात् प्रश्वास के माध्यम से जीव पर आच्छन्न जाड्य का अभिनिष्क्रमण होता है। विन्दु अन्दर समाहित होता है और विसर्ग की निष्कृति बाहर की ओर होती है। भौतिक दृष्टि से भी श्वास रूप में जीवन दायिनी आक्सीजन भीतर जाती है तथा तमरुप कार्बन डाईआक्साईड का निष्क्रमण बाहर की ओर होता है। इसी प्रकार मन्त्र जप से चेतना जीवात्मा की ओर अग्रसर होता है। इसके बदले में चेतना पर छाया अन्धकार हटता जाता है। नासाग्र विन्दु पर मन्त्र बीज का वपन धारणा द्वारा होता है, तथापि यह धारणा कर्तृत्वाभिमान रहित स्थिति में ही हो सकती है। इसका कौशल यह है कि नासाग्र-विन्दु से श्वास स्वयं चालित क्रिया के रुप में उठ रही है। उसके करने में व्यक्ति को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इस परिस्थिति में उस बिन्दु पर क्षणार्ध की भी धारणा उस स्वयं चालित क्रिया से सम्बद्ध कर देती है। इस साधना में सर्वाग्र में धारणा ही फल प्रसवा है। साधना का परिपाक होने के साथ ही धारणा की आवश्यकता नहीं रह जाती, प्रत्युत् जप ही स्वभाव बन जाता है, अथवा स्वभाव के स्त्रोत से जप उन्मिषित हो उठता है।

यह नासग्ररुपी मूलाधार का जप ही जप की परिणति नहीं है। इसके अनन्तर स्वाधिष्ठान की आधारभूता जिह्वा से जप करना चाहिये। जो साधक नासाग्र-विन्दु पर जप धारणा के बिना ही जिह्वा से जप करते हैं, उनका मन्त्र अत्यन्त दीर्घ काल में चैतन्य होता है। नासाग्र विन्दु पर मंत्र बीज का वपन करने से धारणा की प्रतिष्ठा के साथ-साथ मन्त्र बीज तत्काल चैतन्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि नासिका के अग्रभाग से ही चैतन्य सत्ता का सम्पर्क मानव देह से होता है। अतः इस विन्दु पर मंत्र चैतन्यता एक स्वाभाविक प्रक्रिया सी है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में धारणा की प्रतिष्ठा से मन्त्र बीज को चैतन्य करने के उपरान्त ही उस जाग्रत बीज का जप जिह्वा के द्वारा करना श्रेयस्कर है। जिह्वा द्वारा जप करने की भी दो स्थिति है। प्रथम स्थिति है जिह्वा द्वारा बीजाक्षरों का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाप अथवा नाम का जाप। बीजाक्षर इष्ट सत्ता की निर्गुण स्थिति है और नाम उसकी सगुण स्थिति का प्रतीक है, यद्यपि इस स्थिति में सगुण स्थिति भी रूपात्मक नहीं है। कारण यह है कि रूपात्मक सत्ता का आविर्भाव तैजस् चक्र मणिपूर में ही होता है। स्वाधिष्ठान केन्द्र से नाम जप के समय इष्ट सत्ता भी अरूप स्थिति में ही रहती है। अरूप स्थिति में रहने पर भी इस केन्द्र से नाम जप करने से इष्ट सत्ता के रस का अविर्भाव होने लगता है। प्रकरान्तर से सम्यक् रूप से यथायथ जपाविर्भाव होते ही जिह्वा उलटकर तालुमूल की ओर अग्रसर होने लगती है। स्वाधिष्ठान केन्द्र पर आधारित जप की सम्यक् परिणति में जिह्वा तालुमूल से क्षरित अमृत का आस्वादन करने लगती है। यही यथार्थ जलतत्त्व है, जिसका आधारभूत स्थल स्वाधिष्ठान चक्र है। इस उदाहरण से भी जिह्वा स्थान में स्थित महायोगोक्त स्वाधिष्ठान चक्र की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी स्वाधिष्ठान को आधार बनाकर जप होता है। यह कहा जा चुका है कि बीजाक्षर इष्ट सत्ता का निर्गुण प्रतीक है। निर्गुण का तात्पर्य है धनीभूत अव्यक्त, केन्द्रीभूत सूक्ष्म सत्ता। सगुण का तात्पर्य है विकसित व्यापक तथा व्यक्त सत्ता। निर्गुण सत्ता की गति केन्द्र की ओर होती है, अतः इस स्थिति में साधक का बोध इष्टकेन्द्र में विलीन हो जाता है, परन्तु सगुण स्थिति में साधक का बोध इष्टकेन्द्र में विलीन नहीं होता, प्रत्युत इष्टसत्ता साधक के सम्मुख व्यक्त होकर साधक के अन्तः केन्द्र में समाहित हो जाती है। दोनों की स्थिति में यही बाह्य भेद परिलक्षित होता है। प्रकारान्तर स यह कहा जा सकता है कि बीज जाग्रत होने पर साधक की सत्ता अथवा साधक का बोध जाग्रत बीज में समाहित होने लगता है। नाम जाग्रत होने पर जाग्रत नाम साधक के अभ्यन्तर में प्रविष्ट हो कर स्थित हो जाता है। पहली स्थिति है सिन्धु में बिन्दु का विलीनीकरण, दूसरी स्थिति है बिन्दु में सिन्धु का विलयन। प्रथम स्थिति म सिन्धु प्रधान है। द्वितीय स्थिति में बिन्दु की प्रधानता सुसिद्ध हो जाती है। वहां सिन्धु अप्रधान है।

स्वाधिष्ठान चक्र का जप साधन संघर्षण के फलस्वरूप उर्ध्वोत्थित होने लगता है। अब वह मणिपूर चक्र केन्द्र में स्पष्ट होने लगता है। स्पष्ट होने का अर्थ है रूपायित होना। मणिपूर चक्र तेज प्रधान होने के कारण रूप का उत्स है। उसका गुण है रूपदर्शन। यह रूप कैसा है? इसका ज्ञान होना आवश्यक है। यह रूप है जप का धनीकरण। सर्वप्रथम यहां जप ज्योति की धनरूपता में प्रकाशित होता है। स्वाधिष्ठानोत्थित जप में अब व्यक्तता का सचार होने लगता है। यहीं से एकलक्ष्य स्थिति का उन्मेष होता है। रूप दर्शन के अभाव में लक्ष्य स्थिर कर सकना असम्भव है। अतः ज्योति पर ही लक्ष्य स्थिर करना श्रेयस्कर है। अव्यक्त सत्ता पर लक्ष्य स्थिर करने का प्रयास व्यर्थ श्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लक्ष्य साधना का फल है उर्ध्वस्थिति। कारण मणिपूर चक्र का गुण है तेज और फल है रूप दर्शन। तेज की गति सदैव उर्ध्वदिक् की ओर होती है। तेज स्वभावतः उर्ध्वगामी है। तेज की उर्ध्वगामिता रूप की प्रतिष्ठा करती है। तेज ही केन्द्रित होकर रूप का उद्भव करता है। यही मंत्र चैतन्य है। चैतन्य सत्ता का गठन न होने तक मंत्र में चैतन्यता नहीं आ सकती। मन्त्र का रुपायित होना ही मंत्र चैतन्य हैं। इसी भूमि से इष्ट रूप में मन्त्र प्रकाशित होता है।

★

आकर्षक विकर्षण

कर्मी क्या देखता है? ज्ञानी क्या देखता है? भक्त क्या देखता है? एक अथवा स्वयं क्या देखता है? कर्मी विषय को नहीं देखता। वह शक्ति की क्रीड़ा को देखता है। सर्वत्र शक्ति की ही क्रीड़ा है। जहाँ जगत्गत् प्राणी रूप रसादि की क्रीड़ा को देखते हैं, कर्मी प्रकृति राज्य में शक्ति की क्रीड़ा प्रत्यक्ष करता रहता है।

ज्ञानी शक्ति की क्रीड़ा नहीं देखता। वह देखता है कि सर्वत्र एक सत्ता प्रकाशमय भाव से स्थित है। आत्मा ही सर्वत्र विराजित है। भीतर बाहर एक है। यहाँ क्रीड़ा नहीं है। सब कुछ निष्क्रिय एवं स्थिर है। जो कुछ क्रीड़ा है भी वह मिथ्या है और प्रकृति का जाल मात्र है। एक छाया मात्र है। ज्ञान की पूर्णावस्था में प्रकृतिगत क्रीड़ा भी दृष्ट नहीं होती।

भक्त देखता है सर्वत्र लीलामय भगवान विराजित हैं। शक्ति के अतीत क्षेत्र में भी क्रीड़ा चल रही है। वह प्रकृति की क्रीड़ा नहीं है। लीलामय की लीला है। यह सब अप्राकृत है। लीलामय की इच्छा ही अनन्त वैचित्र्य के रूप में विलसित हो रही है। यही नित्यलीला है।

तदनन्तर जो है वह अत्यन्त गुह्य है। वह है आत्माराम की कथा—स्वयं की कथा, एक की कथा। वह स्वयं को स्वयं ही देखता है। दूसरा हैं कहाँ? एक वही सब कुछ के रुप में विराजमान है। सारा प्रसार करके भी वह एक ही है।

कर्मी की स्थिति आज्ञा चक्र में है। उसका मन एकाग्र है। इस स्थिति में ज्ञान प्रकाशित होता है। यह स्थिति षट्चक्र भावानान्तर्गत तृतीय नेत्र है। ज्ञानी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की स्थिति परमज्योति में होती है। सहस्त्रार ही चिदाकाश है। भक्त की स्थिति होती है सहस्त्रदल कमल में। वहाँ रसपान, अमृतधारा पान करता रहता है।

एक का अर्थ है ब्रह्मरन्ध्र, तदनन्तर अव्यक्त है, अर्थात् स्वयं है।

कर्मी की क्रिया क्या है ? कर्मी की क्रिया है शक्ति की क्रीड़ा देखना। ज्ञानी ज्ञान को देखता है। भक्त भगवान की इच्छा को देखता रहता है।

★

अधिमानस एवं अतिमानस

प्रथमतः मन द्वारा साधना होती है। मन प्राणमय कोष से विकास प्राप्त करता है। प्राणमय कोष उत्स है। उससे मन का स्फुरण होता है। स्फुरण होने से ही उसमें सत्वगुण का संचार नहीं हो जाता। वस्तुतः विज्ञानमय कोष उन्मोचित होने पर सत्वगुण का संचार होता है। सत्वगुण का संचार होने पर भी केन्द्र प्राप्त नहीं होता। केन्द्र की स्थिति आनन्दमय कोष में होती है। आनन्दमय कोष में जीव की पूर्णगति होती है। इतने उन्नयन का भागी बनने पर भी वह जीव ही रहता है। यद्यपि आनन्दमय कोष में वह मुक्त हो जाता है, तथापि वह परमेश्वर की धारा में प्रवेश नहीं कर सकता। आनन्दमय कोष में जो जीवभाव रहता है, वह प्राकृत जीव भाव नहीं है। अपेक्षाकृत शुद्ध एवं निर्मल जीवभाव है। इस स्थिति में वह देह से मुक्त हो जाता है। विज्ञानमय कोष खुलने से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। आनन्द-मय कोष जीवन्मुक्तावस्था है। मनोमय कोष से कर्म संस्कार प्रारंभ हो जाते हैं। प्राणमय कोष में कर्म संस्कार नहीं होते। यह सब प्राचीन साधना का सार है।

दैवी, ऐश्वरीय शक्ति को अप्राकृत शक्ति कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि कोई भी जीव ईश्वर की कृपा से अप्राकृत शक्ति प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी भगवान किसी जीव को ऐश्वरीय कार्य करने के लिये, संसार का कुछ कार्य करने के लिये, अप्राकृत शक्ति प्रदान कर देते हैं। इसका दो आयाम है। प्रथमतः जो जीव कार्य कर रहा है, उसे यह ज्ञान है। द्वितीयतः जो जीव कार्य कर रहा है, उसे यह ज्ञात नहीं है। यह दोनों स्थिति पंचकोष भेदन से प्राप्त अवस्था से भिन्न है। जो कार्य कर रहा है उसे यह ज्ञात नहीं है कि वह क्या कर रहा है, अथच उसमें उच्चस्तरीय सत्ता की शक्ति है और वह साधारण जीवस्तर में ही रह कर कार्यरत है। वह स्वयं नहीं समझ सकता, परन्तु जो उसे जानता है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऐसे अन्तर्दृष्टि सम्पन्न के सम्मुख उसकी उच्चस्तरीय स्थिति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय अवस्था में जीव यह जानता है कि कहाँ से प्रेरित होकर किस की शक्ति से वह कार्य कर रहा है। प्रथम स्थिति के अधिमानस का तात्पर्य है आवरण युक्तता। यह साधारण मन नहीं है। भगवान द्वारा प्रदत्त मन है, तथापि जीव को ज्ञात नहीं है कि उसने क्या पाया है। जब वह यह जान जाता है कि उसे भगवान द्वारा मन एवं शक्ति प्रदत्त है (द्वितीय अवस्था) तब वह अतिमानस रूप हो जाता है। वस्तुतः अतिमानस मन नहीं है। मन का कार्य होता है, अथच मन नहीं है। यह दैवी शक्ति है जहाँ मनुष्य के माध्यम से दैवी शक्ति कार्य कर रही है।

पंचकोषों की स्थिति में जो कार्य किया जाता है वह अधिमानस या अतिमानस का कर्म नहीं है। सामान्य मन को प्राकृतिक क्रम विकास द्वारा पंचमहाभूत से युक्त करने से अन्नमय कोष बनता है जो रूपान्तरित होकर प्राणमय और मनोमय कोष को गठित करता है। तदनन्तर विज्ञानमय कोष में ज्ञान की विकासावस्था प्राप्त होती है, तथापि प्रकृत मुक्ति नहीं मिलती। आनन्दमय कोष में मुक्ति मिलती है, तथापि ईश्वरत्व नहीं आता। अतः प्राणी मुक्त जीव कहलाता है, अर्थात् वह उच्चस्तरीय जीव ही रह जाता है। देह त्याग के साथ वह अखण्ड चैतन्य में लीन हो जाता है। अधिमानस तथा अतिमानस में ऐसा नहीं होता। ये दोनों स्थितियाँ सांसारिक है ही नहीं। ये दोनों कार्य विशेष के लिये जगत् में आये हैं। अतिमानस तो साक्षात् ईश्वरीय शक्ति युक्त स्थिति हैं।

★

अध्यात्मसाधना में जप एवं ध्यान

अध्यात्म साधना में जप एवं ध्यान की प्रधानता है। जप रहस्य के ज्ञान के पूर्व शब्द तत्त्व तथा वाक् तत्त्व का ज्ञान आवश्यक है। शब्द अथवा वाक् चतुर्विध कहे जाते हैं। परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी। परावाक् शब्द ब्रह्म का स्वरूप है। वह परमशिव से अभिन्न है। इसकी बाह्य स्फूर्ति तीन प्रकार की है। प्रथम पश्यन्ति, द्वितीय मध्यमा और तृतीय वैखरीरूप स्फूर्ति। विश्व का विश्लेषण करने पर विभाग का ज्ञान होता है। यह योगीगण को भी मान्य है। प्रथम है शब्द, द्वितीय अर्थ और तृतीय ज्ञान। अर्थ का तात्पर्य है पदार्थ। शब्द उसका

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वाचक है, अर्थ शब्द का वाच्य है। अतएव इनमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। इसी प्रकार ज्ञान और अर्थ का भी सम्बन्ध है। अर्थ विषय है। ज्ञान विषयी है। अतः इनका विषय-विषयी सम्बन्ध सुस्पष्ट हो जाता है। इसी कारण शब्द-अर्थ और ज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध भी है। शब्द-अर्थ का वाच्य—वाचक सम्बन्ध तथा ज्ञान-अर्थ का बोध्य-बोधक सम्बन्ध। वैखरी अवस्था में शब्द और अर्थ पारस्परिक रूप से भिन्न हैं। शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य वस्तु है। दोनों में भेद है। मध्यमा अवस्था में शब्द-अर्थ में भेदाभेद सम्बन्ध है। पश्यन्ति अवस्था में शब्द और अर्थ एक ही वस्तु हो जाने से दोनों का अभेद सम्बन्ध है। पश्यन्ति अवस्था में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। जो जीव पश्यन्ति अवस्था पर्यन्त विकास प्राप्त करते हैं, उनका जीवन सफल हो जाता है। सद्गुरु दीक्षाकाल में पश्यन्ति अवस्था से दिव्य चैतन्य का आहरण कल्पना में करते हैं और बाह्य वायुमण्डल में वैखरी शब्द से उसका योग कराकर शिष्य को नाम अथवा मंत्र बीज का दान करते हैं। गुरु जिस नाम अथवा मंत्र बीज का दान करते हैं, वह पूर्णतः चैतन्यात्मक है, तथापि स्थूल शब्दावरण द्वारा उस चैतन्य को आवरित करके गुप्त रूप से शिष्य को देते हैं। शिष्य इस शब्द को देवतारूप मानकर ग्रहण करता है। वह गुरु के पास जो प्राप्त करता है, वह एक स्थूल शब्द ही है। गुरु के आदेश के अनुसार शिष्य इस शब्द का अवलम्बन करते हुये साधना यात्रा प्रारंभ कर देता है। साधना का उद्देश्य है इसके स्थूल एवं वाह्य आवरण को काट फेकना। इसके लिये ध्यान एवं जप की आवश्यकता होती है। जपादि के प्रभाव से यह आवरण छिन्न हो जाता है। अब आन्तरिक सारवस्तु का प्रकाश प्राप्त होने लगता है। यह सार वस्तु ज्योतिः स्वरूप है। इसी समय चित्त में भी ज्योतिर्मयता आ जाती है। यह ज्योति इष्टदेवता के आभासरूप में प्रकाशित होती है, जिससे हृदय भी आलोकित हो उठता है। इसका नामान्तर है चित्त शुद्धि। यहीं ज्ञान का उदय होता है। नाद प्रभाव से चित्त की बहुमुंखी वृत्ति रुद्ध होती है और अन्तर्मुखी गति खुल जाती है। श्वास क्रिया शान्त होने लगती है। तदनन्तर स्निग्ध ज्योति स्वाभाविक वेग से अन्तर्मुख होकर उर्ध्व-दिशा की ओर आरोहण करने लगती है। इस अवस्था में भौतिक जगत का अनुभव नहीं होता। अशुद्ध मन के संस्कारों की क्रीड़ा भी समाप्त हो जाती है। यह ज्योति क्रमशः निर्मल होकर समस्त अन्तर को प्रकाशित करती है। जैसे उषाकाल में रात्रिकालीन अन्धकार कट जाता है, यहाँ भी वैसी ही स्थिति जानना चाहिए। अन्धकार के उस पार इष्ट देवता का साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह पश्यन्ति अवस्था की स्थिति है। गुरुदत्त मंत्र का यही वास्तविक स्वरूप है। यह आत्म-साक्षात्कार का पूर्वाभास है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैदिक साहित्य में जिसे शब्द ब्रह्म कहते हैं, तंत्र साहित्य में वह परावाक् है। शब्द ब्रह्म के गर्भ में विश्व अव्यक्ततया प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टिकाल में परावाक् से बहिर्मुखी गति का प्रारम्भ होता है। परावाक् भगवान की स्वातन्त्र्य शक्ति है। इसी का नामान्तर है चित्शक्ति। भगवान् ही शिव एवं शक्ति, उभय रूप हैं। शिवरूप से वे शान्त, निःस्पन्द अक्षय तथा अव्यय हैं। वे शक्तिरूप से समस्त कर्मों का विभाग करते हैं। शिव के साथ शक्ति संयोग के कारण आत्मा स्वयं को पूर्ण अहंरूप में पहचानता है। पूर्ण अहंभाव परमात्मा का परम स्वरूप है। इसमें आवरण तथा जीव जगत् की कोई भी सत्ता नहीं है। इसी पूर्णअहं में संकोच के कारण आवरण की सृष्टि होती है। यही स्वरूपावरण है। इस स्वरूपावरण के उर्ध्व में अनावृत स्वरूप की सत्ता स्थित रहती है। आवरण लीला ही है। इस आवरण के साथ ही दो प्रक्रिया और घटित होती है। प्रथम है स्वरुप विस्मृति और द्वितीय है किसी अन्य स्वरुप को (देहादिको) अपना स्वरूप मान लेना। वेदान्त में इसे लय तथा विक्षेप कहा जाता है। तमोगुणी क्रिया लय का कारण है। रजोगुणी क्रिया ही विक्षेप का उदय कराती है। आत्मस्वरुपावरण के साथ ही एक ओर महाशून्य का उदय होता है। दूसरी ओर परिच्छिन्न प्रमाता का उदय हो जाता है। इसे माया प्रमाता कहते हैं। यही चित्त है। इसे वेदान्तीगण जीव कहते है और तंत्रवादियों की दृष्टि में यही पशु हैं। शुद्ध द्रष्टारुपी मायिक प्रमाता ही जीवात्मा है। द्रष्टा के सम्मुख जिस महाशून्य का उदय होता है, पण्डितगण उसे आकाश कहते हैं। आकाश मे शून्य ही शून्य है। वहाँ किसी भी दृश्य की सत्ता नहीं है। इसी शून्य में जीवरुपी द्रष्टा का दृश्य रुप में उदय होता है। शून्य तथा द्रष्टा का सम्बन्ध ही दृष्टि है। इस दृश्य को दृष्टि द्वारा द्रष्टा देखता है और अपना लेता है। तदनन्तर संवित् अपना आत्मप्रकाश प्राणरूप में करती है। अब द्रष्टा इस महाशून्य में असंख्य दृश्य देखने लगता है। यह समस्त दृश्य प्रत्येक क्षण में चलनशील है। यह अनादि अविद्या की विक्षेपात्मक शक्तियुक्त प्रक्रिया कही जाती है। संवित् में प्राणाविर्भाव के साथ-साथ द्रष्टा इस समस्त दृश्य में से किसी एक को अपना लेता है। अब द्रष्टा की दृष्टि शुद्ध नहीं रह जाती। वह देहात्मबोध युक्त हो जाता है। (क्योंकि उसने जिस दृश्य को अपनाया था, वह देह था) यह देह स्थूलदेह नहीं है। यह है आत्मा का प्राक्तन कर्म जनित संस्कारज उत्थान। इस देह को लेकर आत्मा स्थूल जगत् में आने के मार्ग का अन्वेषण करता है। इस अन्वेषण के फलस्वरूप वह कर्मशक्ति के प्रभाव से माता-पिता संसर्ग जनित मातृगर्भ में प्रवेश करता है। मातृगर्भ में मातृका शक्ति देह रचना करती है। देह परिपुष्ट होता है। देह की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रचना पूर्ण हो जाने पर वैष्णवी माया गर्भस्थ देह को मातृ योनि से बहिर्गत करती है। यह है प्रसव। इस प्रकार जीव कालराज्य में प्रविष्ट होता है।

कालराज्य से उत्तीर्ण होने के लिये स्व-स्वरूप ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जिसका ज्ञान जिस स्तर तक परिपूर्ण है, वह उतनी दूर तक गतिशील हो सकता है। अतएव पूर्ण अद्वय स्वरूप में स्थितिलाभ के लिये पूर्ण स्वरूप ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक के आत्मस्वरूप में वह सत्ता विराजित है, परन्तु उसका ज्ञान न होने के कारण प्रगति नहीं होती। पूर्ण आत्मस्वरूप का नाम है परमात्मा। प्रत्येक प्राणी में व्यक्तिगत स्तर पर पारस्परिक विभिन्नता है, किन्तु आत्मस्वरुप में कोई भेद नहीं है। आत्मस्वरुप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये बाह्य आवरण का भेद करके अन्तः प्रविष्ट होकर अपने मूल-स्वरुप का अन्वेषण करना होगा। देव-देवी का स्वरुप, ज्योति वा रुप आत्मस्वरुप नहीं होता। आत्मस्वरुप का अर्थ है स्वयं का अहं। प्रत्येक प्राणी महामाया के मायापक में डूबकर निजस्वरुप को भूल गया है। माया से त्राण तथा महामाया का अतिक्रमण करना आवश्यक है। त्रिगुणात्मक प्रकृति राज्य में विवेक ज्ञान द्वारा चिद्रुप में कैवल्य स्थापना की जा सकती है तथापि यह वास्तविक आत्मलाभ नहीं है। यद्यपि इससे प्राकृत देह से मुक्ति मिलती है और दृढ़ कर्म-संस्कार भी उच्छन्न हो जाता है, अधोलोकों में पुनरेव जन्म नहीं लेना पड़ता, तथापि यह पूर्णत्व नहीं है। कारागार से मुक्त होने मात्र से राजगद्दी का लाभ नहीं हो जाता। इसके लिये राजकीय शक्ति सामर्थ्य की आवश्यकता होती है। कैवल्य प्राप्त मुक्त पुरुष को यह अधिकार नहीं मिलता। अतएव वास्तविक आत्मप्राप्ति के लिये कैवल्य ज्ञान से अधिक ज्ञान की आवश्यकता है। आत्मा का परमस्वरुप परमेश्वर से अभिन्न है। मात्र दुःख निवृत्ति द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये दिव्य ज्ञान आवश्यक है। इसका नाम है शुद्ध विद्या। इसे श्रीभगवान से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त उच्चातिउच्च अधिकार की प्राप्ति होती है। इसमें प्रारंभ में सद्गुरु की कृपा भी आवश्यक है। श्री भगवान जब यह देखते हैं कि जीव का अनादि संसार हेतुस्वरुप अविद्यामल परिपक्व हो गया है, तब महाकरुणा के कारण उसे शुद्ध विद्या का दान करते हैं। इसके परिणाम स्वरुप वह महामाया राज्य में प्रवेश करता है और अधिकारी पुरुष के समान मायिक जगत के सेवाकार्य आदि दैवीकार्य की देखरेख करता है। क्रमशः अधिकार वासना निवृत्त होने के पश्चात् उसमें महाज्ञान का विकास होने लगता है। अब कालराज्य निःशेष हो जाता है। अनन्त विश्व के कारणभूत शिव-शक्ति का सन्धान प्राप्त होता है। जहां शिव एवं शक्ति पृथक् हैं, वह अपूर्ण स्थान है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्णत्व का पथिक शिव-शक्ति में भी विश्रान्त नहीं होता। उसके सम्मुख शिव-शक्तिमय तथा शक्ति शिवमय रुप से प्रकाशित होती है। यह निष्कल अवस्था है। यही परम संवित तथा परब्रह्म है। इस स्थान पर्यन्त साधक स्वयं नहीं जा सकता। उन्मनी शक्ति का अनुग्रह इसके लिये आवश्यक है। साधक समस्त विश्व का भेद कर सकता है परन्तु पूर्णत्व पर्यन्त स्वयं नहीं जा सकता। यह उन्मनी शक्ति ही उसे पूर्णत्व प्रदान करती है। प्रत्येक जीव को पूर्णत्व प्राप्त करने का अधिकार है, तथापि प्रत्येक उसे प्राप्त नहीं कर सकता।

★

आत्मतत्व एवं ब्रह्मतत्व

आत्मतत्त्व तथा ब्रह्मतत्व स्वरूपतः अभिन्न है। जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति है वैसे ही आत्मा की स्वरूपभूत आत्म-शक्ति है शक्ति और शक्तिमान (अथवा शक्ति का आश्रय) स्वरूपतः अभिन्न है। आत्मा स्वरूप से एक हैं, उसी प्रकार शक्ति भी स्वरूपतः एक है। आत्मा का स्वभाव समान होता है। आत्मा को स्वप्रकाश कहा जाता है। कारण आत्मा स्वप्रकाश के कारण नित्य प्रकाशमान है। बाह्य प्रकाश आत्मा का स्पर्श भी नहीं कर सकता। जड़ वस्तु स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती। उसको प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा रहती है। वह स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु आत्मा स्वतंत्र है। आत्मा चित्स्वरूप है, उसकी शक्ति को भी चित्शक्ति कहते हैं। यह सब नामकरण आत्मा में नहीं हैं, तथापि विषय को स्पष्ट करने के लिए नामकरण किया जाता हैं। इस चित्शक्ति का नामान्तर है परावाक्। यह अद्वैत दृष्टि की विवेचना है। द्वैत दृष्टि से एक प्रकार का पार्थक्य प्रतीत होता है। उसकी विवेचना यहाँ अप्रासंगिक है। आचार्य गण परावाक् को स्वातंत्र्यशक्ति या स्वभाव कहते हैं। आत्मा परब्रह्म है तथा परावाक् ही शब्दब्रह्म पदवाच्य है। सृष्टि के प्राक्काल में इसी महाशक्ति परावाक् से विश्व का स्फुरण होता है। आत्मा तथा महाशक्ति अभिन्न एवं समरस भाव से विद्यमान हैं, इसी कारण आत्मा में आमित्वबोध सतत् जागरुक रहता है। यह खण्ड आमित्व बोध नहीं है। खण्ड आमित्व आत्मा में अनात्मभाव के कारण उदित होता है। इस खण्ड भाव में अवस्थाभेद से अस्मिता, अहंकार प्रभृति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का उदय होता है। यह अखण्डभावमय, अप्रतिद्वंद्वी, अप्रतियोगी विराट "मैं" है, जो समस्त आमित्व का मूल है। सर्वत्र यही एक "मैं" की सत्ता रहती हैं। इसका प्रतियोगी द्वितीय कोई भी नहीं है। "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा"। यह अपरिच्छिन्न अहन्ता है, अतएव आत्मा ही महेश्वर है। यह परिपूर्ण अहन्ता ही परावाक् अथवा आत्मा की स्वातंत्र्यभूता महाशक्ति है।

स्वातंत्र्य के कारण जब आत्मा स्वयं को संकुचित करके लीला या अभिनय के लिये अणुरूपा होने लगता है, तब यह महाशक्ति विभक्तवत् होकर विचित्र खण्डशक्ति रूप में परिणत हो जाती है। इन सभी शक्तियों का स्तरभेद एवं कार्यभेद से नाना कार्य है। अनन्त शक्ति के अनन्त भेद हैं। मूल शक्ति शब्दात्मक है अतएव खण्ड शक्ति मूलतः ध्वनिरूपात्मक तथा वर्णात्मक हो जाती है। परनाद तथा महानाद अवस्था से वर्णरूप तथा मातृकारूप शक्तियों का अवतरण होता है। इस समय आत्मा (शिव) अणुरुप होकर तथा महामाया से आवृत होकर मायागर्भ में प्रविष्ट होता हैं। इस स्थिति में उपर्युक्त वर्णमूला शक्ति मूल मायाशक्ति की किरण बनकर चित् अणुरुपी आत्मा को मोहित करती है और नाना प्रकार के विकल्प जाल द्वारा जड़ित कर देती हैं। समस्त वर्ण नाना प्रकार की समष्टि में सम्मिलित होकर विभिन्न भाव तथा वृत्ति का उत्पादन करते हैं। इन्हें हम वासना, कर्म संस्कार, अविद्याबीज, विक्षेपरेणु प्रभृति संज्ञा प्रदान करते हैं। केवल उच्च श्रेणी के योगी ही इनके स्वरुप को आयत्त कर सकते हैं। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, भक्ति, प्रेम, क्षमा आदि भाव या वृत्ति वर्णसमूह की सामूहिक क्रिया से ही चित्त को अभिभूत करते हैं। चित्त के चांचल्य का मूल कारण वर्ण समूह की क्रिया है। लय, विक्षेप आदि अवस्थाओं का हेतु मातृका को ही कहा गया है। अतः मनुष्य मात्र विकल्पाधीन है। निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। विकल्प शुद्धि के द्वारा ज्ञान निर्मल होता है।

सृष्टि की धारा में परावाक् से पश्यन्ती तदनन्तर मध्यमा वाक् का आविर्भाव होता है। सर्वान्त में वैखरी प्रकाशित होती है। हम वैखरी का ही प्रयोग करते हैं। इन्द्रिय गोचर पदार्थों का आविर्भाव वैखरी वाक् के उदय के साथ ही हुआ है। शब्द और अर्थ, वाक् और अर्थ परस्पर संसृष्ट है। जब तक पदार्थ समूह इन्द्रियों से अनुभूत होते रहते हैं, तब तक वाक् की भी स्थिति वैखरी ही रहती है। योग शक्ति के प्रभाव से वैखरी भूमि से उत्थान होता है और मध्यमा स्तर में प्रवेश होता है। यह उत्थान चित्शक्ति के उन्मेष से होना सम्भव है। गुरुभक्ति के प्रभाव से अथवा तीव्र अभ्यास के फल से वैखरी शब्द क्रमशः संस्कृत तथा शोधित होता हैं। हम जिस शब्द का उच्चारण करते हैं, वह मलिन शब्द है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उसमें आगन्तुक मल विद्यमान रहता है। यह मल विगलित होते ही मध्यमा में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। शब्द के पुनः-पुनः आवर्त्तन से शब्दगत मल में क्षीणता आती है। उस अवस्था में श्वास वायु इड़ा-पिंगला से हटकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। सुषुम्ना मध्यमार्ग है। यह निर्विकल्प ज्ञान में जाने के लिये राजमार्ग है, तथापि अत्यन्त गुप्त है। एक प्रकार से यह पथ निरुद्ध सा है। यह पथ निरुद्ध है, तभी सामान्य मनुष्य जागतिक एवं व्यावहारिक कार्य कर पाते हैं। अन्यथा जागतिक एवं व्यावहारिक कार्य कर सकना असंभव सा हो जाता और कर्मक्षय करने का अवसर नहीं मिलता। कर्मफल के प्रारब्ध भोग के लिये और कर्मदेह की सार्थकता के लिये, प्रकृति ने सुषुम्ना पथ को आवरित कर रक्खा है। योगी तथा कर्मी इस आवरण को खोल देते हैं। जप साधना इसी आवरण को खोलने का एक मार्ग है। वैखरी से जप करते-करते शब्द कण्ठ में रुद्ध हो जाता है और यहां से सुषुम्ना का पथ क्रमशः खुलने लगता है। तब वायु एवं मन सूक्ष्म भाव धारण करते हुये सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाते हैं। साथ ही नाद का अभ्युत्थान होने लगता है।

नादोदय ही मंत्र चैतन्य का पूर्वाभास है। वर्ण विगलित होकर नादरूप में प्रवर्द्धमान हो जाता है। अन्यथा मन उत्थित होकर मध्यस्थ में प्रवेश कैसे करता? ध्यान द्वारा उत्थान होना संभव है, परन्तु नादविरहित ध्यान अत्यन्त श्रमसाध्य है।

★

ध्यानयोग

स्थूल दृष्टि से योग द्विविध है क्रियायोग एवं समाधियोग। ध्यानयोग भी समाधियोग के अन्तर्गत है। क्रियायोग के तीन भाग हैं—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान। यथा संभव सावधानी के साथ शरीर, मन प्रभृति को कष्ट सहने का अभ्यास कराना **तपस्या** है। इसका उद्देश्य है देह, मन आदि की शुद्धि। इस शुद्धि से अन्तर्मुखता का उदय होता है, जो ध्यान के लिये उपयोगी है। तपस्या के अन्तर्गत कष्ट सहना उचित है तथापि इतना कष्ट सहन करना अनुचित है जो असहनीय हो। तपस्या के प्रभाव से शुद्धि साधित होती है। **स्वाध्याय** का अर्थ है सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा गुरुदत्त मंत्र का जप। समस्त मन्त्रों का उद्भव प्रणव से हुआ है। प्रणव को ईश्वरवाचक कहते हैं। इसका जप विधिपूर्वक करना चाहिये। प्रणव जाप ईश्वर प्राप्ति का सोपान है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है—ईश्वर में चित्त लगाये रखना। व्यवहार भूमि में इसके दो रूप होते हैं प्रथम है, कर्त्तव्य कर्म तथा द्वितीय है कर्म के फल को जगद्गुरु रूप ईश्वर को अर्पण कर देना। स्तरवृद्धि के साथ इसके स्वरूप में भी परिवर्त्तन हो जाता है। इस अवस्था में ईश्वर प्रणिधान का अर्थ होता दे परमात्मा को कर्मफल का अर्पण न करके मूल रूप से कर्म का ही अर्पण कर दैना। इसे श्रेष्ठ क्रियायोग कहा जाता है। इसके अभ्यास से चित्त की शुद्धि सम्पादित होती है और वह अन्तर्मुख हो जाता है। इस स्थिति में क्लेशपाक भी होता है।

ध्यान योग एवं समाधि योग इससे उन्नत अवस्था को कहत हैं। ध्यान की परिपक्व अवस्था समाधि है। समाधि होने मात्र से व्यक्ति योगी नहीं हो जाता। अतः समाधि योगपदवाच्य नहीं है। चित्त की एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठा होने पर ही समाधि को समाधियोग कहा जा सकेगा। क्षिप्त, विक्षित तथा मूढ़ अवस्था से आच्छन्न चित्त दशा में समाधि हो जाने पर भी उसका आध्यात्मिक मूल्य नहीं ह। कारण, इन सभी भूमियों में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता रहता ह। यद्यपि विक्षिप्त भूमि में लेशमात्र सत्वगुण का संस्पर्श रहता है, तथापि वह याग के उपयुक्त नहीं है। एकाग्रभूमि में प्रकाशित वृत्ति भी एकाग्रता से युक्त हो जाती है, यह एकाग्रभूमि की महिमा है। वृत्तिगत एकाग्रता नाना प्रकार स होता से होती है। अमेरिका आदि देशों में मादक पदार्थों के सेवन द्वारा वृत्ति को एकाग्र किया जाता है। गांजा-भांग आदि द्वारा वृत्ति शून्यता भी प्राप्त की जाती है। द्रव्यों के गुण से आकस्मिक भाव से वृत्ति एकाग्र हो जाती है। इसे भी याग नहीं कहा जा सकता। कारण इसमें उपरी एकाग्रता अवश्य है परन्तु, भूमि त एकाग्रता नहीं है। योग की प्राप्ति के पूर्व अयोग (पृथकत्व) का तथा प्राप्ति के पश्चात् वियोग जनित आकुलता का अनुभव होना अत्यन्त आवश्यक है। योग के लिये आधारगत शुद्धता परम आवश्यक है। क्रिया योग के द्वारा क्लेशादि संस्कार का पाक (क्षीणीकरण) होता है, तदनन्तर प्रसंख्यान योगलब्ध ज्ञान से क्लेश दग्ध हो जाता है। क्रिया योग की पूर्णता के बिना समाधियोग फलित नहीं होता।

★

प्रेम साधना

प्रत्येक साधना का स्वाभाविक मार्ग ही श्रेष्ठ कहा जाता है। कृत्रिम उपायों द्वारा भी ज्ञान, प्रेम अथवा भक्ति की साधना सम्पन्न करने का विधान प्राप्त होता है। कृत्रिम उपाय श्रेयस्कर नहीं है। उससे आभास मात्र ही प्राप्त होत है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वास्तविक वस्तु अज्ञात रह जाती है। यथार्थ प्रेमसाधना के पूर्व भावसाधना अत्यन्त आवश्यक है। भावसाधना ही स्वभाव की साधना है। उसमें शास्त्र वर्णित कोई भी विधि-निषेध मान्य नहीं है। मायिक देहाभिमान की अवस्था में भावसाधना भी निष्पन्न नहीं हो सकती। भाव का अर्थ है स्वभाव। मायावरण से हमारा स्वभाव आच्छन्न है। सर्वप्रथम इस आवरण को हटना चाहिये। इसके लिये अनेक उपायों की व्यवस्था की गयी है, जिसमें मंत्रशक्ति प्रधान है। जब तक सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक नाम जप ही करते रहना चाहिये। गुरु प्राप्ति होने पर गुरु प्रदत्त विधान के अनुसार चलना आवश्यक है। इस उपासना से भौतिक देह की तथा चित्त की शुद्धि होती है। इस शुद्धि के कारण माया का आवरण अपसारित हो जाता है। मायावरण द्वारा आत्मा का स्वभाव आच्छन्न रहता है। आवरण के अवसारण के साथ निजभाव उन्मुक्त हो जाता है। इसका नामान्तर है स्वभाव प्राप्ति। इसी आवरण को हटाने के लिये गुरु, शास्त्र, उपदेश, दृष्टान्त आदि की व्यवस्था की गयी है।

भाव का वैशिष्ट्य दो प्रकार का है। प्रथम है एक भाव का आश्रय अथवा आधार (Subject), द्वितीय है विषय (Object)। भाव का स्फुरण आश्रय विषय के अवलम्बन करने से होता है। भाव का आश्रय है भक्त। भक्त देहधारी है। भक्त की यह देह मायिक नहीं है, स्थूल-सूक्ष्म अथवा कारण देह भी नहीं है। भाव देह माया से परे होता है। आत्मा देह पर अभिमान करता है अर्थात् अभिमान का आरोपण करता है। इस स्थिति में साधक की भौतिक स्थूल देह किसी आक्षेप का आरोपण नहीं कर सकता। यदि स्थूल देह (भौतिक देह) विक्षेप का आरोपण करने में समर्थ हो जाता है, उस स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि अभी जागतिक भाव शुद्ध नहीं हुआ है। एक ४० वर्ष के वृद्ध की भावदेह १० वर्ष के बालक के अनुरूप भी हो सकती है। यह भाव देह अमूर्त्त न होकर आकार विशिष्ट होता है। इस आकार में आत्मा का अहंभाव उदित हो जाता है। इसके अभाव में, अर्थात् भावदेह में आत्मा के अहंभाव के अभाव में भावसाधना संभव है ही नहीं। भावदेह की प्राप्ति होते ही भावुक तथा भक्त की सत्ता गठित होती है और उपयुक्त स्थिति में भाव के विषय का भी आविर्भाव हो जाता है। भावाश्रय रूप भावदेह के गठन के साथ-साथ भावानुरूप धाम आदि भी स्फुरित हो जाते हैं। भाव की परिपक्वता है प्रेम। फूल जब प्रस्फुटित होकर सुगन्धित मकरन्द युक्त होता है, तभी उसकी परिणति पूर्ण होती है। मकरन्द के कारण मधुमक्खियाँ उसकी ओर आकर्षित होने लगती हैं। इसी प्रकार भाव की परिणति प्रेम के रूप में होते ही भगवत्स्वरूप स्वयमेव आविर्भूत हो जाता है। उनके आवाहन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। क्रियात्मिका भक्ति से भावभक्ति की यही विशेषता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्रियात्मक भक्ति भी जब तक भाव भक्ति रूप में परिणत नहीं होती तथा जब तक भाव का परिपाक नहीं होता, तब तक श्री भगवान का दर्शन प्राप्त नहीं होता। मातृभाव के साधक को भावदेहरूपी शिशुदेह की प्राप्ति होती है। तदनन्तर शिशु-भाव की परिपक्वता के साथ-साथ प्रेमदेह की प्राप्ति होती है। प्रेमदेह प्राप्त होने पर ही मातृसत्ता का आविर्भाव होता है। इस प्रक्रिया के पूर्व आविर्भाव संभव ही नहीं है। यही प्रेम की सिद्धि है। प्रेमाधार तथा प्रेमाश्रय का समाना-धिकरण है। फलस्वरूप मां की गोद में शिशु का आरोहण होता है। इसे भी प्रेम का चरम विकास नहीं कहा जा सकता। जैसे भाव का विकास है प्रेम, उसी प्रकार प्रेम का विकास है रस। भावदेह में द्वैत है। सन्तान तथा मां की सत्ता अलग-अलग प्रतीयमान होती है। भावदेह में मां के साथ सन्तान का तथा सन्तान के साथ मां का अभेद नहीं होता। प्रेम को गाढ़ होना चाहिये। "गलनाद्रर्ति"। जब प्रेम रसरूप में परिणत होता है, उस स्थिति में सन्तान तथा मां, दोनों रसमय हो जाते हैं। इसी रसमय तनु को लेकर परमेश्वर की नित्यलीला में अधिकार प्राप्त होता है। यह स्थिति क्रियात्मिका भक्ति द्वारा त्रिकाल में प्राप्त नहीं हो सकती। रसमय तनु युक्त रससिद्ध भक्त भगवान की नित्यलीला के परिकर बन जाते हैं। यह भक्ति साधना के विकास की चरम अवस्था है।

इसके अतिरिक्त एक और धारा है। इसके विकास के समय भगवान और भक्त, मां और सन्तान में एक प्रकार का व्यवधान रह जाता है। यही भेद भक्ति है। यहाँ भक्तगण भगवान के अनन्त ऐश्वर्य को देखकर अभिभूत हो जाते हैं। माधुर्य का पूर्ण आस्वादन इसमें नहीं हो सकता। इस प्रसंग में भक्त की दृष्टि के अनुसार ६४ गुणों का परिचय देना आवश्यक है। इन्हें गुण अथवा कला भी कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोणानुसार स्वरूप का चरम विकास प्राप्त होने पर ही मनुष्यत्व का आविर्भाव होता है। ४९ गुण तथा एक महागुण का योग हो जाने पर पूर्ण मनुष्य का निर्माण होता है। इसको नरोत्तम भी कहते हैं। उत्तम कोटि की मनुष्य देह में स्थित आत्मा भी परमात्मस्तर पर्यन्त उन्नीत नहीं हो सकता। परमात्मा तथा आत्मा का स्वरूप मूलतः एक है, तथापि गुणों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के कारण एक बड़ा और एक छोटा है। कोई-कोई भक्त ५० गुणों की प्राप्ति के उपरान्त भी नरोत्तम पदधारी नहीं हो सकते। वे उत्तम होने पर भी जीवकोटि मे ही परिगणित होते हैं। ५१ से ५६ गुणों का विकास होने पर आत्मा परमात्मस्तर में उन्नीत हो जाता है। मायाशक्ति परमात्मा के अधीन है और जीवात्मा माया के अधीन है। स्वरूपतः आत्मा एक है, किन्तु उसमें विकासगत् तारतम्य परिलक्षित होता है। ५६ से ६० गुणों तक का विकास होने पर परमात्म

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भाव से भी उर्ध्व में जीव की गति होती है और वह भगवद्भाव की प्राप्ति करता है। जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही हैं, तथापि जीवात्मा अधीन होता है, जब कि परमात्मा अधीश है। इसी प्रकार परमात्मा तथा भगवान एक है, परन्तु परमात्मा में माया सम्बन्ध है। भगवान में माया सम्बन्ध है ही नहीं। भगवान का माया से अधिष्ठातृ रूप में भी सम्बन्ध नहीं है। भगवद्भूमि में माया का कहीं सन्धान ही नहीं मिलता। भगवान् का तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूप शक्ति के साथ रहता है। भगवद् अवस्था में सन्धिनी तथा संवितशक्ति का पूर्ण विकास रहता है और किंचित् मात्रा में ह्लादिनी शक्ति की संश्लिष्ट रहती है। भगवद्भक्त ह्लादिनी शक्ति के इस आभास का अनुभव करके, इसे ऐश्वर्य भक्ति के नाम से अभिहित करते हैं। भगवान् में अनन्त योगशक्ति विद्यमान रहती है। ऐश्वर्यमयी ह्लादिनी प्रधान भक्ति के द्वारा भगवद् स्वरूप के ऐश्वर्य का अनुभव किया जा सकता है। इस भक्ति में भगवान् उर्ध्वस्थ हैं और भक्त निम्नस्थ है। इस सम्बन्ध के अभाव में ऐश्वर्यस्थिति का प्रकाश नहींहो सकता।

आत्मा में जब ६१ से ६४ गुण पर्यन्त का विकास होता है, तब भगवद्भाव से उर्ध्व स्वयंभगवान् "अवस्था का उदय हो जाता है। इसमें माधुर्य की प्रधानता है। इस अवस्था में पूर्ण ऐश्वर्यवत्ता भी माधुर्य भाव से अभिभूत रहती है। स्वयं भगवान् को ही पूर्णब्रह्म कहा जा सकता है। स्वरूपतः ब्रह्म तथा स्वयंभगवान् में अभेद है तथापि स्वरूप शक्ति की महिमा के कारण स्वयंभगवान् को चरम स्थिति माना गया है।

सृष्टि क्रम

नारायण (नाभिकमल)

ब्रह्मा

रुद्र — सनकादि योगी — नारदादि देवर्षि — वशिष्ठ–भृगु आदि ब्रह्मर्षि — पुलस्त्य–पुलह–दक्षादि प्रजापति

(पुलस्त्य–पुलह–दक्षादि प्रजापति →) देवयोनि, मनुष्य–तिर्यक्–स्थावर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देवयोनि—देव, दिक्पाल १४ इन्द्र-१४ मनु; गन्धर्व, किन्नर, विश्वपुरुष, विद्याधर, वायु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यक।

तिर्यक्—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीट।

स्थावर—वृक्ष, गुल्म, लता, तृण आदि।

उद्भिद्/जीव के अन्यभेद—(१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) उद्भिज, (४) स्वेदज।

यादव प्रकाश के मत से जीव ब्रह्म का अंश है। भास्कर के मत से जीव स्वोपाधिक ब्रह्मखण्ड है। एक जीववादीयों के मत से जीव अविद्या परिकल्पित है। नानाजीवमतवादियों के अनुसार जीव अविद्यापरिकल्पित है। बद्ध जीव का १४ भुवनात्मक अण्ड कटाहवर्त्ती से लेकर कीट पर्यन्त तक है, जो चेतन है।

शुद्धाद्वैत मतानुसार अक्षरांश तथा पुरुषांश रूप से जीव द्विविध होता है।

व्याहृति तत्व

गायत्री मंत्र में "भूः भुवः" तथा स्वः का उल्लेख हैं। इन तीन के भी अनेक अवान्तर विभाग हैं। यथा महः, जनः तपः, एवं सत्य। स्वर्ग से निम्न स्तरीय भूः एवं भुवः तथा स्व (स्वर्ग) से उच्चस्तरीय महः जनः तपः एवं सत्यं दोनों की संधि "स्व" ही है, अतएव गायत्री में स्वः पर्यन्त का ही वर्णन है। तदनन्तर "तत् सवितुः" कहा गया है अर्थात् इन सप्त भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्य का प्रसव जिसके किया है, इसीलिये वह सविता है। "वरेण्यं" "तत् सवितुः" उसका जो "भर्ग" है वह वरेण्य है। तदनन्तर एक वरेण्य भर्ग है और एक अवरेण्य भर्ग भी है। पुनः वरेण्य भर्ग का हीं अवलम्बन करने को कहा गया है। यह भर्ग ही तेज हैं। "वर्च्च वर्च्चंसा वर्च्चा देहि"। भर्ग एक प्रकार का तेज है और वर्च्च अन्य प्रकार का तेज है। यह सब वेद का ही शब्द है। "धीमहि" का अर्थ है चिन्तन करना। क्या चिन्तन करें? भर्ग (तेज) का, वरणीय भर्ग का चिन्तन करें।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समस्त विश्व का विश्लेषण करने पर अनेक स्तर समूह की प्राप्ति होती है। उसमें उर्ध्वलोक है, अधः लोक हैं। सबकी पृष्ठभूमि में है प्रणव ! यह उत्पत्ति विन्दु तथा शब्द केन्द्र है। अतः भूः भुवः स्वः का तात्पर्य है समस्त लोक अथवा समस्त विश्व। वरणीय भर्ग का तात्पर्य है, जिसे वरण किया जा सके अर्थात् जो शुद्ध है, वह। यह वरणीय अथवा अवरणीय भर्ग किसका है ? यह है सविता का ! सविता सब को प्रसव करता है। सविता का जो वरेण्य भर्ग है, उसीका हम ध्यान करते हैं। सविता ही परब्रह्म हैं। ज्योतिस्वरूप हैं। वह कैसी जोति से ज्योतित है ? वे सृष्ट्यात्मक सक्रिय ज्योति से ज्योतित हैं। शब्द से ही सृष्टि होती है। शब्द ही ज्योति है। यह "शुद्ध" शब्द है। हम शुद्ध शब्द का ही ध्यान करते हैं, यद्यपि अशुद्ध शब्द की भी सत्ता हैं, जिससे अशुद्ध सृष्टि होती है। "देवस्य धीमहि" वे देव हैं, द्युतिमान, द्युतिशील; प्रकाशशील ही देव हैं। इस प्रकार के भर्ग देव का हम ध्यान करते हैं। इस मंत्र से जगत् सृष्टि का उत्स उद्घाटित होता है। उनकी ज्योति तथा तेज का स्वरुप प्रकाशित होता है। जगत् की सृष्टि जिस शक्ति से हो रही है, उसमें अनन्त वैचित्र्य विद्यमान है, उस अनन्त वैचित्र्य शक्ति में से "निर्मल" का ही ध्यान किया जाता है।

इसके अनन्तर कहा गया है "धीयो यो नः प्रचोदयात्"। यही वास्तविक वस्तु हैं। जिस ज्योति का इतिपूर्व चिन्तन किया गया, यह उसका महाज्योति रुप है। वैदिक साहित्य में "धी" शब्द द्वारा ज्ञान तथा कर्म का अर्थ प्रकट किया जाता है। अतः धीशक्ति का तात्पर्य है ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का स्वरुप। "धीयो यो नः प्रचोदयात्" मे नः का अर्थं है अस्माकं। हमारी ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति को जो "प्रेरण" करते हैं, जगाते हैं। इसके अन्तर्गत बल प्राप्त होता है। सम्पूर्ण मंत्र का तात्पर्य है वलप्राप्ति। भगवान् की पूर्णशक्ति "भर्ग" का ध्यान किया जाता है। यह ध्यान अशुद्धि तथा मलिनता के आच्छादन को दूर करता है। इसी कारण वर्च्चं का ध्यान न करके "भर्ग" का ध्यान किया जाता है। विश्वसृष्टि में सत्यलोक की सत्ता है और उसकी पृष्ठभूमि में शब्दब्रह्म विद्यमान है। यह शब्द लौकिक शब्द नहीं अपितु सृष्टि शब्द है। बाईविल के न्यू टेस्टामेन्ट में है "In begining there was word and the word was with God and the word was god. यह word" ही यथार्थ शब्द है। यह क्या करता हैं ? "धीयो यो नः प्रचोदयात्"। वह ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति का वर्द्धन करता है। जिस शक्ति द्वारा अन्तर्निहित सुप्तरुप से वर्त्तमान ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का स्फुटन होता है, वह हमें प्राप्त होती है, वही वरेण्य है। जिस भर्ग से "भूः भुवः स्वः तत्सवितुः वरेण्यं" सब कुछ सृष्ट

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता है, वही वरेण्य भर्ग है। जिससे जगत् का ध्वंस होता है, वह वरेण्य भर्ग नहीं है। सविता ही उपादेय भर्ग है। ये ही प्रसव करते हैं। ''प्रचोदयात्'' हमारे अन्दर जो सुप्तशक्ति है, उन्हें सविता जगाते हैं। ज्ञानशक्ति द्वारा ज्ञानेन्द्रिय को संचालित करते हैं, क्रियाशक्ति द्वारा कर्म परिचालना कराते हैं। इसी कारण वे हमारे निर्देशक हैं। महाभारत में उक्त है "त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"। यह भी तदनुरुप उक्ति है।

★

ॐकार एवं सृष्टिरहस्य

ॐकार ही शब्द ब्रह्म है। यह परब्रह्म का बहिःस्फुरण है। अर्थात् परब्रह्म जो विश्वातीत, नित्य तथा सच्चिदानन्दरुप हैं, वे सृष्ट्युोन्मुख होकर, सर्वप्रथम शब्दब्रह्म का स्फुरण करते हैं। सृष्ट्योन्मुखता का तात्पर्य है—स्वयं बहुःरूप में प्रकाशित होना। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति का ज्ञान आवश्यक है। प्रथम अभिव्यक्ति का ज्ञान आवश्यक है। प्रथम अभिव्यक्ति में इसका स्फुरण अखण्ड महाकाश में महानाद रुपी एवं महाज्योतिरुपी सत्ता का भान कराता है। यह स्वतः सिद्ध होने पर भी भगवान् के स्वातंत्र्य से उद्भूत है। बोधातीत श्री भगवान् शब्द ब्रह्म के रुप में बोधरुपता को स्वीकार करते हैं। उस स्थिति में वे "मैं" रुप से अपनी सत्ता का अनुभव करते हैं। यही है अखण्ड अहं। इस स्थिति में इसका प्रतिद्वंद्विरुप द्वितीय 'अहं' नहीं रहता यह पूर्णाहंता की स्थिति है। इसे परावाक् भी कहते हैं। यह परब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न है। इससे पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी रूप सृष्टि का उन्मेष होता है। पश्यन्ति अवस्था स्वयंप्रकाश ज्योतिः स्वरूप है। यह चैतन्य-शक्ति है। इस स्थिति में शब्द बोध स्वरूप होता है। बोध के साथ ही बोध का विषय अभिन्नरूपेण ग्रथित रहता है। इसके पश्चात् मनोराज्य का विकास होता है। तब शब्द की स्थिति मनोमयी हो जाती है। वह पदार्थवाचक रूप में कार्य करता है। यह अन्तराकाश में ध्वनित होता है और अनन्तानन्त प्रकार के विकल्पों की सृष्टि भी करता है। इसके पश्चात् मनोराज्य से इन्द्रियराज्य का अवतरण होने लगता है। इस शब्द को वैखरी कहते हैं। यह कण्ठ द्वारा उच्चारित होता है। इसमें बाह्यकार्यकारिता रहती है। यह स्थूल शब्द है। ॐ कार आदि शब्द का ही नामान्तर है। यह हमसे परिचित वैखरी आदि शब्दों से विलक्षण, मनोवृत्ति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

से विलक्षण, मनः तीत शुद्धज्योति से पृथक्, सर्वमूल स्पन्द है। समस्त विश्व सृष्टि के आदि में इसका आविर्भाव होने के कारण इसे मांगलिक माना जाता है। वेद, तंत्र, आगम, निगम, आदि सभी में इस शब्द (प्रणव) का मुख्य स्थान है।

आचार्यगण के मतानुसार अनादि तथा अनन्त शब्दब्रह्म अक्षर स्वरूप है। इसी शब्दब्रह्म से विवर्त्तरूप में अनन्त वैचित्र्यरूप, अर्थरूप जगत् का आविर्भाव होता है। अतः सभी आध्यात्मिक साधनाओं में इसी का आश्रय लिया जाता है। प्राणाश्रय लेने पर (प्राण के माध्यम से साधना करने पर) प्राण की प्रशान्त अवस्था का प्राकट्य होता है, तथापि वह चरमलक्ष्य नहीं है। कारण प्राण पर अधिकार हो जाने पर भी मन पर अधिकार नहीं हो पाता। अतः प्राणस्पन्दन निवृत्त होने के पश्चात् मन के सूक्ष्म स्पन्दन की निवृत्ति आवश्यक है। यह धारणा त्रुटिपूर्ण है कि प्राण के निरोध के साथ ही मनः स्पन्दन का निरोध हो जाता है। सूक्ष्म विवेचना द्वारा ज्ञात होता है कि प्राणरोध के उपरान्त भी मन के सूक्ष्म स्पन्दन की सत्ता विद्यमान रह जाती है। अतः मनः स्पन्दन का निरोध करना चाहिये, तथापि मनोरोध के उपरान्त भी परमास्थिति का उदय नहीं होता। कारण मन का निरोध हो जाने पर भी वाग्रूपा स्पन्दन शक्ति की स्थिति अक्षुण्ण बनी रहती है। यद्यपि यह अत्यन्त उच्चस्तरीय स्थिति है, तथापि इसका भी निरोध होना चाहिये। अन्यथा शब्दातीत परब्रह्म का सन्धान नहीं मिलता। शब्दातीत परब्रह्म निष्कल एवं निरञ्जन हैं। वे कला, तत्व तथा भुवन से अतीत हैं। अथच, वे सर्वकलारूप, समस्त तत्त्वरूप हैं तथा निखिल भुवनों में उनका ही आत्मप्रकाश हो रहा है। शब्दाश्रय से ही इस स्थिति का उदय हो सकता है।

ॐ कार साधना शब्द साधना का ही रूपान्तर है। ॐ कार के सभी अवयवों का परिचय प्राप्त करना चाहिये। तदनन्तर इन सभी अवयवों का अतिक्रमण भी आवश्यक है। पूर्व अवयव का अतिक्रमण किये बिना परवर्त्ती अवयव का भान नहीं होता। प्रत्येक अवयव के साथ उसके अनुरूप अखण्ड महासत्ता का निगूढ़ सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष होता है। ॐ कार के अवयवों का अतिक्रमण करने का अर्थ है, विश्वातिक्रमण। तभी शब्दब्रह्म भेद संभव होगा। प्रथम अवयव है अकार, द्वितीय उकार, तृतीय मकार। इन तीनों का भेदन करना होता है। ये क्रमशः जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति जगत के रूप है। इन तीनों का अतिक्रमण करने पर "तुरीय" नामक चतुर्थावस्था का अनुभव होता है। यही अवस्था उपासना शास्त्रों में "बिन्दु" के नाम से सुप्रसिद्ध है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मन के साथ काल का अत्यन्त सम्बन्ध घनिष्ठ होता है। काल की मात्रा जितनी ही सूक्ष्म होगी, उसी परिमाण में मन भी सूक्ष्म होगा। अतः काल कीं मात्रा अतिक्रान्त होते ही मन भी लंघित होता है और अतिमानस अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। काल की मात्रा के अनुपात से मन के साथ विशुद्ध चैतन्य का सम्बन्ध घटित होता है। मायाराज्य में काल की मात्रा जिस परिमाण में अनुभूत होती है, मायातीत योगमाया राज्य में काल की मात्रा उत पनेरिमाण में प्राप्त नहीं होती। वह अति सूक्ष्म मात्रा में अनुभूत होती है। योगमाया राज्य के उर्ध्व में कालचक्र का भेदन हो जाता है। अब माया की मात्रा का प्रश्न ही नहीं उठता। इस स्थिति में मनः अतीत, शुद्ध मायातीत विशुद्ध चिदात्मक परमार्थ सत्य का प्रकाशन होता है। बिन्दु एवं अर्धमात्रा ही ईश्वरीय भूमि है। इस भूमि में भी अनेक अवान्तर विभाग हैं, इनके लिये अर्धमात्रा संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था में उपनीत योगी की दृष्टि में समस्त विश्व अपरोक्ष रूप से प्रतिभात होता है एवं सर्वकर्त्तृत्व शक्ति भी उनके लिये अव्याहत सी रहती है। यही शास्त्रोक्त अर्धमात्रा राज्य है। अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान का त्रिकालभेद यहाँ नहीं रहता। यहाँ नित्य वर्त्तमान अवस्था विद्यमान रहती है, तथापि इसे भी पूर्णत्व नहीं कहा जा सकता। यह ईश्वर भाव का विकास मात्र है। सिद्ध पुरुषगण इसी भूमि में संचरण करते हैं।

जिस मायिक जगत् की व्यवस्था को शास्त्र में जगत् व्यापार कहा जाता है, वह अर्धमात्रा स्थिति से ही निष्पन्न एवं व्यवस्थित होती है। इस मायिक जगत् में बहिर्मुख भाव रहता है। "अर्धमात्रा स्थिता नित्या" रूप से देवी का स्तवन दुर्गासप्तशती में किया गया है, अतएव अर्धमात्रा स्थिति में स्थित शक्ति ही समस्त मायिक जगत् की व्यवस्था करती है। बिन्दु के पश्चात् नादभूमि में काल की मात्रा और भी न्यून है। नादभूमि में समस्त विश्व का उदय अन्तरङ्ग रुप से होता है। यह अवस्था वह अवस्था है, जिसमें प्रेम का उदय संभव है। बिन्दु भूमि में संचरण अत्यन्त कठिन है। इस संचरण में निरोधिका शक्ति प्रतिबन्धक है। इस कारण सिद्धगण भी महाशक्ति का साक्षात् आदेश प्राप्त किये विना बिन्दु से नाद में प्रवेश नहीं कर सकते। यदि बिन्दु से नाद भूमि में प्रवेश संभव होता, उस अवस्था में समग्र मायिक जगत् में विशृङ्खला उत्पन्न हो जाती। कारण, बिन्दुस्थित भागवत् शक्ति द्वारा अधिष्ठित सिद्धगण ही मायिक जगत् की सृष्टि स्थिति प्रभृति व्यापार को सम्पादित करते हैं। नादभूमि में काल का स्पर्श न्यूनाति-न्यून है, अथच है। नाद के अन्तिम छोर पर नादान्त नामक एक अवान्तर स्तर भी है। इसे हम ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। इसका भेदन कर सकने पर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भावात्मक सत्ता अतिक्रान्त हो जाती है और तब सभी व्यष्टि एवं समष्टि सत्ता भी अतिक्रान्त हो जाती है। अब अभावरुप महाशून्य का आविर्भाव होता है। महाशून्य भेद अत्यन्त कठिन है।

गति

गति का तात्पर्य है, प्रयाणकालीन गति। मृत्युकाल के पश्चात् देवयान तथा पितृयान गति का संधान मिलता है। पितृयान गति का क्षेत्र चन्द्रलोक पर्यन्त है। इसमें भोगादि शेष होते हैं और प्राणी को पुनः वापस आना पड़ता है। इस कारण इसे वक्रगति कहते हैं। देवयान गति का क्षेत्र सूर्यमण्डल की ओर है। सूर्यमण्डल का भेद करने पर ब्रह्म-स्वरूप स्थिति प्राप्त होती है। वहां से वापस नहीं आना होता, यही सरल गति है। पितृयान गति (वक्रगति) उनके लिये है जिनका पुनः-पुन जन्म होता है। इस गति में पड़ने से स्थायित्व नहीं होता स्वर्ग, लोक-लोकान्तर में भ्रमण (गमन) करके पुनः नर देह धारण करना पड़ता है। पुनः कर्मपथ में अग्रसर होना पड़ता है। देवयान गति की प्राप्ति ज्ञानोदय के पश्चात् होती है। अर्थात् ज्ञान तथा कर्म का पारस्परिक समुच्चय होने से ही देवयान गति की प्राप्ति होती है। भक्ति सम्प्रदाय के जिन महाचार्यो ने देवयान गति की विवेचना किया है, उन्होंने मृत्यु के समय देवयान गति के उत्क्रमण का भी विशद वर्णन किया।

इस उत्क्रमण का एक मार्ग है —इसे सुषुम्ना मार्ग कहा गया है। हमारे देह में सुषुम्ना की जो स्थिति है, वही स्थिति देह के बाहर विश्व ब्रह्माण्ड में भी है। सुषुम्ना सूर्यरश्मि की एक रश्मि अथवा नाड़ी है। सूर्य की सरल रश्मि को ही सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। मृत्युकाल में इस नाड़ी का आश्रयण करने से उर्ध्वगति की प्राप्ति होती है। अतः देह त्याग के पश्चात् इसी नाड़ी का आश्रय लेकर सूर्य-मण्डल का भेद करते हुये ब्रह्मलोक पर्यन्त उत्तीर्ण होना चाहिये। यही गति देवयान गति है। इस गति से पुनरावर्त्तन नहीं होता। एक ऐसी भी अवस्था है, जिसमें उर्ध्वगति नहीं रहती। इसे गतिहीन स्थिति कहते हैं। यह सब को प्राप्त नहीं होती।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऊर्ध्वगति से परमेश्वर स्वरूप में योग होता है। भक्त, योगी प्रभृति इस प्रकार की गति प्राप्त करते हैं। ज्ञान का परिपूर्ण विकास होने पर गति की कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। गति से यह भासित होता है कि निकृष्ट स्थान से उत्कृष्ट स्थान की ओर संचरण। उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति के पश्चात् वहां से वापस नहीं आना होता, यह गतिवादियो का सिद्धान्त है। अग्नि, सूर्य चन्द्रादि के अतीत जो स्थान है, वहाँ स्थिति होने के पश्चात् पुनरावर्त्तन नहीं होता।

एक ऐसी भी अवस्था है, जिस अवस्था मे कहीं आने जाने का प्रश्न ही उत्थित नहीं होता। एक अवस्था है, जहाँ जाने पर लौट कर नहीं आना होता, एक अवस्था है, जहाँ जाने पर पुनः लौट आना होता है। इन दोनों के अतीत एक अवस्था है जिसमें न तो कहीं जाना है और न लौटना ही है। जाना और लौटना यह है पितृयान। नरदेह स जाता है और पुनः नरदेह में वापस लौट आता है। कारण नरदह ही गतिकर्म का अधिकारी है और उसी गतिकर्म के फल से गति होती है। अतः उध्र्वलोक जाने वाला अथवा अधोलोक जानेवाला, उन लोकों में स्थित नही रह पाता। पुनः नरदेह में वापस चला आता है और यह आवागमन लगा रहता है।

एक और भी गति है। नरदेह में गये तो अवश्य परन्तु इस प्रकार के मार्ग से गये जिस से जाना तो हुआ है, परन्तु वापस नहीं आना है। 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम'। यह कब होता है? क्या यह मात्र कर्म द्वारा होता है? यह कर्म द्वारा नहीं होता। विशुद्धतम ज्ञान द्वारा भी नहीं होता, कारण विशुद्धतम ज्ञान में कोई गति नहीं होती। यह अवस्था उपासकों के लिये है। ब्रह्मोपासना करके जो उध्र्वगति पाते हैं, वे वापस नहीं आते। उनका कर्म अवशिष्ट ही नहीं रहता, अतः प्रत्यावर्त्तन संभव नहीं है। यदि देहावस्था में ही समस्त कर्मसमूह का विलोपन हो, उसके कर्म का लेशमात्र भी शेष न रहे, वहीं गति ही नही होती। उध्र्वगति भी नही, लौट कर आना भी नहीं, यह ऐसी अवस्था है। इस स्थिति में जिसे जिस अवस्था में ही स्वरूप ज्ञान हुआ है वह उसी स्थिति में ही स्थित रह जाता है, जैसे काकभुशुण्डि काक देह में, हनुमान वानर देह में। स्वरूपावस्था सभी अवस्था में स्थित रह सकती है। स्वरूपावस्था ऐसी अवस्था नहीं है, जिसे प्राप्त करने के लिये अन्यत्र जाना पड़े। अतः इसकी प्राप्ति के लिये कहीं भी जाना प्रयोजनीय नहीं है।

जो यहाँ स्वरुप की प्राप्ति नहीं कर सकता, उसे क्रमशः निकृष्ट स्तर का त्याग करके अपेक्षाकृत् उच्च स्तर में गतिशील होना प्रयोजनीय है, परन्तु जिसने यहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वरुप लाभ किया है वह कहां जायेगा ? जहां उत्कृष्ट और निकृष्ट का कोई प्रश्न ही नहीं हैं, सब कुछ शुद्ध है, ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है, इस ज्ञान का उदय होने के पश्चात् किसी भी गति का प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार इस आलोचना से त्रिविध गति का परिचय प्राप्त होता है। (१) जाना एवं आना (२) जाना परन्तु लौट कर कभी न आना (३) जाना भी नहीं और आना भी नहीं।

व्यापक सृष्टि

भूः, भुवः स्वः को व्याहृतित्रय कहा गया है। जो महाव्याहृति है, वही क्षुद्र व्याहृति भी है। यह हैं खण्ड व्याहृति अर्थात् सप्तव्याहृति यथा भूः. भुवः. स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्य। खण्ड व्याहृति है ये सप्त व्याहृति तथा महाव्याहृति है उक्त भूः, भुवः, स्वः। स्वः के दो भाग हैं—एक हैं अशुद्ध भाव तथा एक है शुद्धभाव। अशुद्धभाव है स्वर्ग। इसे द्वितीय स्वर्ग कहते हैं। इन्द्रलोक प्रभृति अशुद्ध स्वः है। यद्यपि यह भी आनन्दमय है, तथापि भोग स्थान होने के कारण अशुद्ध है। जो पुण्यवान् हैं वे इसमें स्थान प्राप्त करते हैं। इसमें अज्ञान का बीज विद्यमान है। कर्मबीज है, तभी इसमें कर्मानुरूप स्थान मिलता है।

इसका एक दिक् और हैं, जहाँ अज्ञान रहने पर भी ज्ञानसम्बन्ध वर्त्तमान रहता है। ज्ञान के क्रम विकास के अनुरुप महः, जनः; तपः एवं सत्य की सत्ता है। सत्य व्याहृति में ज्ञान का प्रचण्ड प्राबल्य विद्यमान रहता है। इसमें विन्दुमात्र ही कर्म एवं अज्ञान का लेश रह जाता हैं। इसे साधारण भाषा में ब्रह्मलोक कहते हैं। जब कर्म एवं अज्ञान लेशमात्र अवशिष्ट नहीं रहता, तब प्राणी लोक संस्थान के परे हो जाता है। लोक संस्थान की सत्ता विगलित हो जाने के उपरान्त विचित्र स्थिति हो जाती है। लोकसंस्थान की सत्ता कर्मजनित है। कर्म अवशिष्ट न रहने पर लोक समूह भी नहीं रह जाते। कारण समस्त लोकों की सत्ता सुखभोग अथवा दुःखयोग के ही लिये है, अथवा सुख-दुःख की मिश्रावस्था के भोग के लिये है।

विशुद्ध ज्ञानोदय होने के उपरान्त तथा सुख-दुःख के अतीत होने के उपरान्त जो आनन्दभोग होता है, वह कर्मफलप्रस्तुत नहीं है। वह आनन्द है स्वरुपानन्द।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मा के स्वरुपस्थिति जनित आनन्द को ब्रह्मानन्द भी कहते हैं। यह किसी भी भोग के अन्तर्गत् नहीं है। इसी कारण हम ब्रह्मलोक को कभी पुनरावर्तन रहित, आगम अपायशील पाते हैं, तो कभी ब्रह्मलोक को पुनरावर्तनशील भी पाते हैं। पुराणों में अनेक कथायें ऐसी भी हैं जिनमें ब्रह्मलोक से वापस लौटने का तथा नरदेह मे जन्म लेने का उल्लेख है। ऊर्ध्व एवं अधः रुप से ब्रह्मलोक का भी दो विभाग परिलक्षित होता है। कर्म एवं अविद्या का लवलेश मात्र भी समाप्त हो जाने पर स्वरुप स्थित होता है। यहा पुनरागमन का बीज शेष नहीं रहता। इतने पर भी कभी यह बीज शेष रह भी सकता है। क्योंकि यहां (ब्रह्मलोक) वह कट भी सकता है। बीज कट जाने पर परब्रह्म मे स्थिति हो जाती है। अब पुनरावर्तन की कोई सभावना नही रहती। हिरण्यगर्भ अथवा कार्यब्रह्म के साथ की युक्तावस्था मे भी अनेकानेक स्तर विद्यमान हैं। जो इस स्तर में जहाँ तक उन्नत होता है, वह वहीं उपासना करता और आनन्द प्राप्त करता है। वे सभी ज्ञानी हैं, तथापि ज्ञान होने पर भी सम्यक् ज्ञान हुआ, यह नहीं कहा जा सकता।

सम्यक् ज्ञान कब और कैसे होता है? जिन्हें हिरण्यगर्भ कहा गया, वे जब कार्यभार त्याग करके कारण स्वरुप मे प्रतिष्ठित होते हैं, तभी यह अवस्था प्राप्त होती है। इस समय समस्त ब्रह्मलोक हिरण्यगर्भ के साथ अभिन्नतया स्थित हो जाता है, अर्थात् इस समय हिरण्यगर्भ के साथ जितने भी ज्ञानीजन पार्षद के रुप मे थे, वे सभी मुक्त होकर परम गति प्राप्त करते हैं। जब हम सप्तलोक की विवेचना करते हैं, तब हम उसके अधः ऊर्ध्व एवं मध्यलोक रुप तीन विभाग प्रत्यक्ष करते है। मध्यलोक "भूः" है। यह विश्व का केन्द्र भी है। मध्यलोक का आश्रय लेकर अनेक लोकों की सत्ता सन्तान्वित रहती है। कामरुप संहिता में वर्णित है कि इसका आश्रय लेकर अनेक ऊर्ध्वलोक भी विद्यमान हैं। अधोलोक का तात्पर्य है पाताल। पाताल की संख्या असंख्य है। अनन्त की सृष्टि में सब कुछ अनन्त है, तथापि मूलरुप से पाताल, तल, वितल, रसातल इत्यादि सप्त पाताल कहे जाते हैं। पाताल का अधोदेश है नरक। नरक के भी तीन विभाग हैं। इन तीन भागों को पुनः ३२ भागों मे विभक्त किया गया है। तदनन्तर इन ३२ के भी असंख्य विभाग हैं। इन असंख्य नरक समूह के नीचे नरक की चरम अवस्था अवीचि स्थित है, जो अन्धतमसाच्छन्न है। यहां सूर्य की विन्दुमात्र किरण का भी प्रवेश नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि सूर्य की किरण अन्तरिक्ष में प्रवेश करती है, भूलोक मे प्रवेश करती है तथा पाताल में भी प्रवेश करती है। पाताल में अपेक्षाकृत न्यूनता से प्रवेश करती है, किन्तु अवीचि में सूर्य किरण का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सन्धान भी प्राप्त नहीं होता। अतएव "असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः" कहा गया है। "वीचि" शब्द का अर्थ है तरंग और अवीचि का तात्पर्य है जहां तरंग ही नहीं हैं। ऐसे अंधकार से, स्पन्दन हीनता से अवीचि आवृत्त है। सृष्टि का स्पन्द वहाँ परिज्ञात ही नहीं होता। यहाँ ज्ञान का पूर्ण अप्रकाश है। उससे भी नीचे की अवस्था का नाम है 'काल'।। जिस काल से सृष्टि होती है, वही काल वहां स्थित है। कालाग्निरुद्र रूप का स्थान यही है। इसके अतिरिक्त विश्व है ही नहीं। यही विश्व का शेषस्थान हैं।

ऊर्ध्वदिक् में भूः, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः तथा सत्य लोक की सत्ता है। सत्यलोक के भी अनेक विभाग हैं यथा ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक। जैसे मस्तक के ऊपर ब्रह्मरंध्र है, वैसे ही ब्रह्माण्ड का ब्रह्मरंध्र जहां भेदित होता है, वहां से इस ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। उसके अधिष्ठाता वीरभद्र हैं, जो चतुर्दिक रुद्रगणों द्वारा परिवेष्ठित हैं। चतुर्दिक का अर्थ है आठ दिशायें। चारो दिशायें तथा उनके चार कोण का योग अष्टदिशा होता है। इसी प्रकार दशदिक् का अर्थ है आठ दिशाये + ऊर्ध्व = अधः + १० दिशायें। दश दिशा ही दशरुद्र हैं तथा एकादश हैं इनके मूल रुद्र। इन एक रुद्र के सौ अनुचर हैं। अतः इन्हें शत रुद्र कहा जाता है। यह अधिष्ठाता रुद्र सबके ऊपर स्थित हैं। "स्वः" दो प्रकार का होता है। एक "स्व" है स्वर्ग। इस स्वर्ग से पुनरागमन होता है। पुनः नरदेह में वापस आना पड़ता है। पुण्यफल शेष हो जाने पर क्षीण पुण्यावस्था में इस नरदेह में जन्म होता है। अतः उक्त है "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" पुण्य क्षीण हो जाने पर वहां की स्थिति स्वयमेव समाप्त हो जाती है। पुनः मर्त्यलोक में पुण्य करके जीव स्वर्ग स्थिति प्राप्त करता है। जिसने जिस प्रकार का कर्म किया है, वह उस कर्म जनित पुण्य के तारतम्य से, पुण्य के प्रकृति भेद के अनुसार किसी स्वर्ग में स्थान प्राप्त करता है। यह पुण्य के प्राबल्य के अनुसार निर्दिष्ट होता है। उत्कट पुण्य के फल का भोग इस नरदेह में होना संभव नहीं है। कारण अत्यन्त तीव्र आनन्द का गाढ़ आनन्द का, भोग इस शरीर में संभव नहीं है। उस स्थिति में तक्षण मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार उत्कट पाप का फल भोग भी नरदेह में संभव नहीं है। कारण, उत्कट पाप जनित प्रचण्डतर यन्त्रणा का भोग भी नरदेह में संभव नहीं है। इस स्थिति में भी मृत्यु घटित हो जाती है। उत्कट पुण्य फल भोग का स्थान है स्वर्ग। पुण्य का फल जितना अधिक उत्कट होगा, प्राणी को उतना ही ऊर्ध्वलोक प्राप्त होगा। इसी प्रकार पाप के उत्कट तारतम्य के अनुसार नरक का भी तारतम्य होता है।

कर्म भूमि की स्थिति मध्य में है, चतुर्दिक भोगभूमि की सत्ता है। पाप तथा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुण्य के फल का भोग करना ही होगा मिश्र कर्म का फल है देहधारण। मातृगर्भ में प्रवेश करके जन्म लेकर पुनः कर्मभूमि में कार्य करना ही होगा ज्ञान तथा कर्म का मिश्रण होने पर ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है। ज्ञान के उत्तरोत्तर क्रम विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर उर्ध्वलोक प्राप्त होने लगता है। जब अज्ञान एवं खण्ड ज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहेगा, उस अवस्था में विशुद्ध ज्ञानोदय के साथ साथ लोकसंस्थान के परे गति होती है। वहां किसी भी लोक की सत्ता नहीं है। यहां जिस गति की विवेचना की गई है—वह दो प्रकार की गति होती है—प्रथम है शुक्ल गति तथा द्वितीय है कृष्ण गति। हमारे शास्त्रों में देवयान एवं पितृयान रूप द्विविधगति की पर्यालोचना की गयी है। पितृयान गति चन्द्रलोक पर्यन्त की धारा है। चन्द्रलोक पर्यन्त अर्थात् स्वर्ग-नरकादि पर्यन्त। कर्मफल की सत्ता जहां भी है, वहीं चंद्राधिष्ठित क्षेत्र है। चद्र पर आधारित उपादान से ही देह का गठन होता है। प्रेतलोक मध्य अवस्था है। पितृलोक से तात्पर्य है पितृलोक के अन्तर्गत स्वर्गादि। पितृलोक भी द्विविध है। प्रथम है अग्निष्वात्त आदि नित्य पितृलोक। तर्पण के समय जिनका उल्लेख करके जलदान दिया जाता है वे नित्य पितर हैं। दूसरा है नैमित्तिक पितृलोक। यह हमारे पूर्वपुरुषआदि का स्थान है।

देवताओं में भी २ प्रकार के देवता होते हैं। प्रथम है कर्म देवता, द्वितीय को आजान देवता कहा गया है। कर्म देवतागण पूर्व जन्मार्जित कर्म के फलस्वरूप देवपद की प्राप्ति कर सके हैं। उस कर्म के फल से उन्हें देवपद का लाभ हुआ है, तथापि कर्मफल के क्षय हो जाने पर उनका देवाधिकार समाप्त हो जाता है। आजान देवताओं का आविर्भाव ही देवरूप में हुआ है। उनकी देवतारूप में ही आदिकाल से स्थिति है। उनका जन्म आयोनिज जन्म है। स्थूल भाव से इनके जन्म में भी मातृशक्ति तथा पितृशक्ति ही कारण है, किन्तु स्थूल भावापन्न रजवीर्य का यहां संयोग नहीं होता। देवताओं का भी जन्म होता है। अनेक देवताओं का जन्म दृष्टि द्वारा हुआ है। वे नित्य यौवन सम्पन्न होते हैं। कभी-कभी देवताओं का जन्म स्मृति द्वारा भी हुआ है और कभी वे पुष्प द्वारा भी जन्मे हैं। कबीर साहब का जन्म कमल पुष्प से हुआ था। राधिका को भी कमलिनी कहा जाता है। इन देवताओं की देह शुद्धदेह होती है। साधारण प्राणी की देह शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसका जन्म कामनाजनित है। पिता-माता में पारस्परिक कामबुद्धि न होने से देह का गठन ही नहीं हो सकता। ईसाई धर्म में इसे Original Sin कहा गया है। कोई व्यक्ति कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह मातृगर्भ से अज्ञान से अच्छादित रूप में जन्मा है, अतएव वह Sinful (पापयुक्त) है। हम मातृगर्भ से उत्पन्न होने के कारण मूलतः अज्ञानी हैं। अज्ञान के अभाव में,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अज्ञानाच्छादन के बिना जगत में आना संभव ही नहीं है। अज्ञान के हटते ही जगत् में शरीर स्थिर नहीं रहता। यह Sin तथा हमारे शास्त्र में वर्णित पाप समानार्थक नहीं है। यह Sin मूल पाप है जब कि शास्त्रों में वर्णित पाप आगन्तुक पाप है।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक आवरण का घेरा है। प्रत्येक ब्रह्माण्डस्थ जीव भिन्न हैं। जो नित्ययुक्त जीव हैं, वे ब्रह्माण्डावरण से आबद्ध नहीं हैं। वे शिवभावापन्न होते हैं। शिव का अर्थ है शिव के अन्तर्गत अनन्त देवसमूह। राम का तात्पर्य है राम के अन्तर्गत अनन्त देव समूह। वे किसी ब्रह्माण्डादि अण्ड के वासी नहीं हैं। यह एक प्रकार की अत्यन्त उच्च अवस्था है, तथापि कला के अन्तर्गत है। इस स्थिति से परे की स्थिति में कला भी नहीं रह जाती। मन भी नहीं, कोई वैचित्र्य भी नहीं, तथापि एक अखण्ड अनन्त सत्ता दण्डायमान है। यही परपरमेश्वर का स्वरुप है। यह सृष्टि के अतीत की स्थिति है।

महाविज्ञान का उदय

देहान्तर्गत संस्थान तथा तन्तुसमूह में चेतना के साथ संयुक्त इच्छाशक्ति सक्रिय रहती है। समष्टि अवस्था में यह भी तिरोहित हो जाती है। साधारण जागतिक अवस्था में प्राणी का चैतन्य प्रवाह अधोमुखी रहता है। साधना द्वारा इसे उर्ध्वमुख करने का प्रयत्न किया जाता है। चैतन्य प्रवाह के उर्ध्वमुखी हो जाने पर निम्नस्थ नाड़ीचक्र शक्तिरहित होने लगता है। उर्ध्वमुखी चैतन्य प्रवाह की स्थिति में इड़ा-पिंगला की गति स्तिमित हो जाती है। इस समय सुषुम्ना पूर्णतया कार्यरत हो जाती है। उसकी शाखाये भी सक्रिय हो जाती हैं। बुद्धदेव ने इस अवस्था को स्रोतापन्न अवस्था कहा है। इस अवस्था में देहबोध विलुप्त हो जाता है। तदनन्तर उर्ध्वमुखी स्पन्दन वापस आता है और देहात्मबोध भी जाग्रत हो उठता है। बाह्य इन्द्रियों का कार्य भी प्रारम्भ होने लगता है।

स्थूल देह में इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्जगत के साथ सम्बन्ध स्थापना होती है। इस समय बहिराकाश का ज्ञान उदित रहता है। स्वप्नावस्था में बहिर्भाव निमिलित हो जाता है। अन्तर्मुखता होने पर भी इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बहिर्जगत के संस्कार स्थित रह जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा अथच इन्द्रियरहित अवस्था का अनुभव स्वप्नावस्था में घटित होता है। इस क्रिया के समय बहिराकाश से कोई सम्पर्क शेष नहीं रहता। यह सब चित्ताकाश में निष्पन्न होता है। चित्ताकाश की भित्ति का उदय होना स्वप्नावस्था की विशेषता है। तत्पश्चात् स्वप्नावस्था सुषुप्ति में रूपान्तरित होती हैं और प्राणी गाढ़ निद्रा का अनुभव करने लगता है। यही सुषुप्ति है। पुनः चक्राकृति घूर्णन होता है, अर्थात् पुनः जाग्रत अवस्था आती है। पुनः स्वप्नावस्था, पुनः सुषुप्ति। ज्ञानी की अवस्था इससे विपरीत है। वह सुषुप्ति का भी अनुभव करता है। उसे सुषुप्ति में भी अज्ञानाच्छादन नहीं होता। सुषुप्ति के अन्धकार में ज्ञान का प्रकाश होता है। यह ज्ञान क्रमशः तीव्र होता जाता है। ज्ञान की गति उर्ध्वोन्मुखी होती है। इस स्थिति में बाह्याकाश का ज्ञान नहीं रहता। स्वप्न जगत् का भी ज्ञान अवशिष्ट नहीं रहता, अपितु एक कल्पनाशून्य उर्ध्वस्रोत उद्‌घाटित हो उठता है। इस अवस्था में उर्ध्वमुखी स्रोत में स्थिति होती है और अधोमुखी स्रोत से लोक व्यवहार चलता है। यह जीवन्मुक्तावस्था है। अतितीव्र उर्ध्वमुखी स्रोत की अवस्था में निर्विकल्प समाधि का उदय हो जाता है। इस स्थिति में अधोमुखी स्रोत की किंचित् भी स्थिति न रह जाने से लोक व्यवहार समाप्त हो जाता है। पूर्णप्रज्ञा प्रकाशित हो उठती है। अब प्रश्न उठता है कि अधोमुखी स्तोत्र की (इस अवस्था में) स्थिति क्यों नहीं रह जाती? इस अवस्था में अधोमुखी स्त्रोत उर्ध्वमुखी स्त्रोत में मिलकर एक हो जाता है। इसी का नाम है आनन्दमय कोष। यह जागतिक आनन्द नहीं है। इस अवस्था में उर्ध्वमुखी स्त्रोत के कारण मध्याकर्षण का कोई प्रभाव अवशिष्ट नहीं रहता और मध्याकर्षण विन्दु से जो अधोमुखी स्त्रोत चलता रहता है, उसमें प्रेम, करुण, कृपा आदि का योग हो जाने से आनन्द की उपलब्धि होने लगती है। यह विषय प्रयोजन से रहित आनन्द है। यह जब अतितीव्र हो जाता है तब शरीर में भी भार नहीं रह जाता। शरीर भी उपर उठने लगता है। तदनन्तर आनन्दमय कोष का भेदन (अतिक्रमण) होने पर भी आनन्दानुभूति होती है। यह कोष रहित आनन्द है। यह स्वरूपानन्द है। यहीं पर शक्ति की स्वातन्त्र्यावस्था का साक्षात् होता है। इस अवस्था में बहिर्ज्ञान भी रहता है। वाह्य जगत् के समस्त आचारादि, व्यवहारादि का पालन करते हुये भी अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं होता।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुण्यक्षेत्र

साधारणतः तीर्थ अथवा पुण्यक्षेत्र से प्रयाग–वृन्दावन, काशी आदि पुण्यस्थली का तात्पर्य भासित होता है। पृथ्वी के विशेष-विशेष स्थानों को तीर्थ की संज्ञा प्रदान की गयी हैं। परन्तु तीर्थ शब्द के यथार्थ तात्पर्य का ज्ञान आवश्यक है। तीर्थ "तृ" धातु से निष्पन्न है। 'तृ' का अर्थ है तरण या उत्तरण। अर्थात् जिसकी सहायता से हम किसी दुर्गम नदी, आवरण अथवा संकट से उत्तीर्ण हो सकें। जहां से मनुष्य पार हो सके, वही तीर्थ है। एक पार से दूसरे पार तक जा सकने की शक्ति ही तरण है। इस प्रकार गुरु भी तीर्थ है। कारण, गुरु की सहायता एवं कृपा से हम दुस्तर भवसागर को पार करने में समर्थ होते हैं। एक गुरु के यदि १० शिष्य हैं, अथवा ५ शिष्य हैं—वे आपस में सतीर्थ होंगे। अर्थात् समान तीर्थ, जिसे समान गुरु प्राप्त है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तीर्थ शब्द गुरुवाचक भी है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो उत्तीर्ण कर देते हैं, जिनकी सहायता से उत्तीर्ण होना सम्भव होता है, वही तीर्थ है। यह प्राचीन मुनियों का मत है।

महाभारत के अनुसार (शान्तिपर्व्व) इस पृथ्वी के सभी स्थान त्रिगुण से संश्लिष्ट हैं, अतएव जहां सत्त्वगुण का आधिक्य है, उसका एक वैशिष्ट्य हो जाता है। इसी कारण उस स्थान को हम तीर्थ कहते हैं। यह सत्त्वगुण सभी स्थानों में समानरूप से नहीं रहता, अतः कहीं सत्त्वगुण की प्रधानता है, कहीं रजोगुण की प्रधानता है और कहीं तमोगुण व्याप्त है। सत्त्व की प्रधानता भी दो प्रकार की है—प्रथम है स्वाभाविक और द्वितीय है नैमित्तिक। स्वाभाविक प्रधानता वाले स्थान में सृष्टि के आदि काल से ही सत्त्वगुण का प्राधान्य है। प्रत्येक जीव-जन्तु, प्राणी, मनुष्य में भी कोई रजोगुण, कोई तमोगुण और कोई सत्त्वगुण से प्रभावित है। साथ ही कहीं-कहीं मिश्रित रूप में सभी गुण हैं, अथच किसी एक गुण की प्रधानता है। गुणविभाग को लेकर ही सृष्टि की सत्ता सत्तान्वित है। इस कारण जहाँ सत्त्व की प्रधानता है, वहाँ जाने पर मनुष्य का देह, मन आदि सभी शुद्ध हो जाता है। अतएव तीर्थ शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस स्थान में अथवा व्यक्ति में सत्त्वगुण का आधिक्य है उसकी सहायता से मनुष्य अत्यन्त दुरतिक्रम व्यवधान का अतिक्रमण करने में समर्थ हो जाता है। सबसे बड़ा व्यवधान है संसार। संसार का अतिक्रमण करने में सत्त्वगुण प्रधान स्थान भी सहायक होकर तीर्थ पदवाच्य हो जाता है।

यह स्वाभाविक दृष्टिकोण का चित्रण है। जैसे जीवों में अथवा स्थानों में किसी न किसी गुण की प्रधानता है, उसी प्रकार फूल-फल, लता, पत्र आदि में भी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किसी न किसी एक गुण का प्राधान्य परिलक्षित होता रहता है। जैसे अश्वत्थ वृक्ष सत्वगुण प्रधान है, वटवृक्ष एवं निम्बवृक्ष भी सत्वगुण प्रधान है। यहाँ तक कि हमारे शास्त्रों के अनुसार सभी वस्तुसमूह में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का विभाग किया गया है। मनुष्य में भी जाति व्यवस्था जाति को लेकर नहीं, अपितु गुणविभाग के दृष्टिकोण से की गयी है "चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म-विभागशः"। यहाँ कृष्ण ने गुणकर्म विभाग से वर्णव्यवस्था का विधान किया है। जहाँ सत्त्वगुण का आधिक्य है वह ब्राह्मण, जहाँ सत्त्वगुण के साथ किंचित् रजोगुण का संस्पर्श है वह क्षत्रिय। जहाँ सत्व है, रजोगुण हैं, परन्तु किंचित् तमोगुण का संस्पर्श हैं—वह वैश्य हैं। तदनन्तर तमोगुण की प्रधानता हैं शूद्र। इन्द्रादि देवगण क्षत्रिय हैं। ब्रह्मा, बृहस्पति आदि की गणना ब्राह्मण में की जाती है। विश्वदेव, गणदेव तथा विश्वदेवा प्रभृति को वैश्यवर्ण के देवता कहा जाता है। इस प्रकार की जाति व्यवस्था देवताओं में भी है। ये सभी देवता अयोनिज हैं, तथापि गुणकर्म विभाग के कारण इनका वर्ण निश्चित होता हैं।

यह सत्य हैं कि स्वाभाविक रूप से कोई स्थान सत्वगुण प्रधान है, उसी प्रकार साधारणतया किसी निमित्त के कारण कोई स्थान सत्वगुण से रंजित हो जाता है। जिन स्थानों में ऋषिगण ने साधना-तपस्या आदि सत्व कर्म का सम्पादन किया हैं, उनकी तपस्या का तेज उन-उन स्थानों में दीर्घकाल पर्यन्त स्थायी हो जाता हैं। बुद्धदेव ने जहाँ ज्ञान प्राप्त किया, जहाँ उपदेश दिया, जहाँ दीक्षा दिया, वे सभी स्थान आज भी पवित्र हैं। जिन्हें आंतरिक अभिज्ञता प्राप्त है, वे स्थान पर कुछ क्षण बैठकर इसका अनुमान कर सकते हैं। बोधगया में कितनी विशेष शक्ति है, इसका अनुभव उन्हें भली प्रकार है, जिन्होंने वहां बैठकर ध्यानादि क्रिया का निर्वाह किया है। स्थान का प्रभाव, वहां का स्वाभाविक प्रभाव नहीं है। वह प्रभाव वहां तपस्यारत महापुरुष द्वारा नियोजित है। भले ही उन महा-पुरुष की देह न बची हो, स्थान का आच्छादन, कुटिया आदि न बची हो, मिट्टी भी बदल गई हो, परन्तु उस स्थान का वातावरण तब भी स्थायी बना रहता हैं। उस वातावरण का सूक्ष्मस्तर सर्वदा शक्तिक्रिया करता रहता है। वहां उन्मुख एवं उन्मुक्त भाव से बैठने पर उस शक्तिक्रिया का स्पन्दन प्रत्यक्ष होने लगता है। जिस स्थान पर किसी देवता ने नररूप धारण कर आगमन किया हैं, वहां उन देवता की दिव्यशक्ति का प्रभाव वातावरण में अक्षुण्ण सा रह जाता हैं। इसके भीतर भी अत्यन्त सूक्ष्म स्तर हैं। इसके अभाव में इस आकाश एवं वायुमण्डल के अन्तर्गत् इस सूक्ष्म स्तर के अनुसार वातावरण का तारतम्य नहीं हो सकता था। यह अत्यन्त सूक्ष्म परिवेश है। महाप्रलय पर्यन्त यह सूक्ष्म स्तर वर्त्तमान रह जाता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। बाह्यपरिवेश तथा आवरण के विनष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्मावरण के अन्तःराल में यह स्तर स्थिर सा पड़ा रहता है।

जिनकी दृष्टि का उन्मोचन हो चुका है, वे इन स्थानों पर दृष्टिपात करते ही, इसका रहस्य ज्ञात कर सकते हैं ? इस प्रकार के अनेक स्थान हैं, जिन्हें दग्ध कहते हैं अर्थात् वहाँ संसाराकुंर उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यह तेज की प्रक्रिया है। वहाँ इतनी उग्र साधना की गई है, जिसके कारण वहाँ का वातावरण आन्तरिक रूप से ऊसर के समान हो गया है अर्थात् वहाँ कर्मवीज का अंकुरण हो ही नहीं सकता। वायुमण्डल के अन्दर, सूक्ष्म के अन्तर्गत् ऐसे भी स्थानों का संधान प्राप्त होता है, जो तपस्या एवं ज्ञान के कारण इस प्रकार से दग्ध हो चुके हैं, जिससे वहाँ कर्मवीज उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इन स्थलों को ज्ञानभूमि कहते हैं। साधारण मनुष्य ऐसे स्थानों को न तो देख सकते हैं और न उसका संधान ही प्राप्त कर सकते हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव ने वृन्दावन का अन्वेषण किया था। इसी प्रकार लोकनाथ गोस्वामी, रूप गोस्वामी, वल्लभाचार्य ने भी अपनी-अन्तर्दृष्टि के द्वारा वृन्दावन तथा उससे सम्बन्धित अन्यान्य लीलास्थलों का उद्धार किया था। कहाँ कौन लीला हुई है, इसका सूक्ष्म संकेत वहाँ आज भी विद्यमान है। कृष्णलीला ५००० वर्ष प्राचीन है, परन्तु जो अधिकारी हैं, वे उसका आज भी साक्षात्कार प्राप्त करते रहते हैं। "अद्यापिओ सेई लीला करे गोरा राय, को न कोन भाग्यवाने देखिवार पाये"। जिनकी दृष्टि नहीं खुली है, वे नहीं देख सकते। जिनकी दृष्टि उनकी कृपा से खुल चुकी है, वे देख सकते हैं।

अच्छे बुरे लोग सभी स्थानों पर हैं। वहाँ के निवासियों को देखकर तीर्थस्थल की महिमा का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। साधुओं ने तपस्या किया है, देवताओं का अविर्भाव हुआ है, भगवान की लीला हुई है, किसी महान् साधक की उपासना सफल हुई है, उसका एक प्रकाश उस स्थान पर विद्यमान रह जाता है। जिस श्रेणी की साधन क्रिया जहाँ सम्पादित होती है, उसी श्रेणी का प्रभाव उस स्थल पर संचित रह जाता है। यह नैमित्तिक प्रभाव निमित्तवशात् होता है। यह नैमित्तिक प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म होता है। भगवान् का अवतार, किसी विशिष्ट शक्ति का अवतार, इस धरातल पर किसी विशिष्ट कारण से होता है। इसी प्रकार उर्ध्वस्थित महापुरुषधाम अथवा भगवत् धाम का भी धरातल पर आविर्भाव होता है। यही नहीं, भगवान् के शंख, चक्र, गदा आदि का भी अवतार होता है। भगवान् के पुष्प, पुष्पमाला आदि का भी आगमन होता है। अवतरण होने का अर्थ है कि प्रकाश में वे सब भी आते हैं। इस प्रकार धाम का अवतरण होता है। जैसे काशी काल के उर्ध्व में है, काशी देश के भी उर्ध्व में है। काशी इस Space

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में नहीं है "काशते तत्त्वं' जहाँ निरन्तर तत्त्व का प्रकाशन हो रहा है, वही काशी है। काशी में देहाभिमान नहीं रहता। जिन्हें देहाभिमान है, उनकी यदि काशी में मृत्यु होती है, वे भी उस स्थान में तत्त्व आकर्षण से परम प्रकाश के मध्य चले जाते हैं। काशी में मृत्यु की बात साधारण व्यक्ति नहीं जान सकते। मनुष्य ने अनेक पाप किया और काशी में (उसका निधन होने से) मुक्त हो गया यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। जो वास्तविक काशी है, उस काशी की एक महिमा है। जिनका मन अन्तर्मुख नहीं है, वे इसका अनुभव नहीं कर सकते।

सृष्टि होने के साथ-साथ स्तर समूह नीचे उतरते हैं। स्वच्छन्द तंत्र में इसकी विवेचना परिलक्षित होती है। अभिनवगुप्त ने इसका विश्लेषण भी किया है। काशी, कनखल, मथुरा, भुवनेश्वर आदि तीर्थ यहां के नहीं हैं। उनका अवतरण अत्यन्त उर्ध्वस्तर से हुआ है। छप्पन भुवनों के उर्ध्व से यह अवतरण हो सका है। कोई तीर्थ तेजतत्त्व के भुवन से, कोई वायुतत्त्व के भुवन से, कोई आकाश-तत्त्व के भुवन से अवतीर्ण हुआ है। एक-एक तत्व का आश्रय लेकर अनेक भुवन विद्यमान हैं। इन्हीं सब से तीर्थों का अवतरण हुआ है। मन की अन्तर्मुख स्थिति में इन सब स्थानों से सहायता प्राप्त होती है। जिनका मन अन्तर्मुख नहीं है, उनके लिए इन स्थानों का कोई महत्त्व अथवा अस्तित्व नहीं रहता। जिनकी स्थिति अन्तर्मुख है, उन्हें इन स्थानों से सहायता प्राप्त होती है। इसी कारण परमसत्ता ने उर्ध्वलोक के तेज का संचार अधःलोक में भी किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि सृष्टि होने के साथ-साथ इन स्थलों को शुद्ध तत्त्व का संयोग प्राप्त हो चुका है। इस शुद्ध तत्त्व का प्रत्येक स्थल के साथ एक वैशिष्ट्य है। एक, अद्वय भगवत्तत्व आते ही नानारूप से प्रकाशित होता है, तथापि प्रत्येक लोक का एक पार्थक्य भी विद्यमान रहता है। जैसे काशी शुद्ध तत्व है और मथुरा गोकुल से आविर्भूत है। गोलोक तत्व के अन्तर्गत गोकुलतत्त्व है। गोकुल तत्त्व के अन्तर्गत माथुरमंण्डल है और माथुरमण्डल के अन्दर श्वेतदीप है और श्वेतदीप से वृन्दावन आविर्भूत है। साकेत जिसे हम अयोध्या कहते हैं, उसका भी स्थान अलग है। इन सब का नित्यधाम में एक स्थान है। ये सब प्रणव के भी उर्ध्व में विद्यमान हैं। यहां रजोगुण तथा तमोगुण की सत्ता नहीं है, परन्तु सत्वगुण शुद्धरूप से विद्यमान रहता है।

सत्वगुण में अनेक विचित्र जगत् समूह विद्यमान हैं। वहां फूल, फल, नदी, पहाड़, पर्वत् आदि सब कुछ है, तथापि यहाँ की तरह नहीं है। यहां सब कुछ रजोगुण तमोगुण युक्त होने के कारण परिवर्तनशील तथा काल के अधीन हैं, परन्तु सत्वगुण के समस्त दृश्य विशुद्ध हैं तथा रजोगुण एवं तमोगुण के अधीन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं हैं। वे कालातीत भी हैं, तथापि उनमें विविधता एवं वैचित्र्य है। वैचित्र्य के अभाव में आनन्द ही नहीं रह जाता। वैचित्र्य की सत्ता हमारे जगत में भी उसी स्तर से आई है। परमेश्वर की कृपा से सभी शुद्धसत्त्वमय स्थानों का तीर्थ रूप में इस जगत् में आविर्भाव हुआ है। इसी कारण वृक्षादि में भी सात्विक राजस तथा तमस भेद विद्यामान है। गाय को शास्त्रों में भगवती कहा गया है। जो इस रहस्य को नहीं जानते उनके लिये गाय पशु ही है। शास्त्रज्ञ तथा अन्तर्दृष्टि सम्पन्न के लिये उसकी अत्यन्त महिमा है। वैदिक युग से ही उसकी महिमा है। किसी स्थान में स्वाभाविक सिद्धभाव का विकास होता है, कहीं प्रेम का विकास अनुभूत होने लगता है। किसी स्थान पर ज्ञान विकास प्रत्यक्ष होता है। स्थान विशेष में योग सिद्धि का विकास भी परिलक्षित होने लगता है। विन्ध्याचल तीर्थ त्रिकोण है, कामाख्या भी त्रिकोण है, परन्तु विन्ध्याचल में जिस साधन क्रिया का विकास होगा, वह क्रिया कामाख्या में विकसित नहीं होती। मन्त्र का पुरश्चरण अथवा मंत्र जागरण का जो कार्य विन्ध्याचल अथवा कामख्या में होना है, वह अन्यत्र नहीं हो सकता। विन्ध्याचल प्रपञ्च से बाहर जाने के लिये उपयुक्त है। इसके लिये यहाँ एक मार्ग तथा दरवाजा भी है। विन्ध्याचल का मध्य बिन्दु है विन्ध्यवासिनी। इस बिन्दु से त्रिकोण मध्य में जाया जा सकता है। यह कामरूप कामख्या में नहीं है, परन्तु जन साधारण इसे नहीं समझ सकते। स्थान माहात्म्य के सम्बन्ध में अवतारों ने तथा महापुरुषों ने भूरि-भूरि वर्णन किया है। अतएव इस सिद्धान्त एवं तथ्य को एकबार में अस्वीकृत कर देना उचित नहीं है। यह तत्व अनुभव परक है। अनुभव के अभाव में इसे नहीं समझा जा सकता।

जिस काल में यज्ञ अग्निहोत्र हुआ करते थे और जिस काल में इनका विभिन्न प्रकार से अनुष्ठान होता रहता था, उस समय तीर्थयात्रा का इतना अधिक प्रचलन नहीं था। यज्ञ की प्रबलता कम होने के पश्चात् (कलिकाल के प्रारंभ में) तीर्थयात्रा का विधान किया गया। तीर्थयात्रा का एक उद्देश्य है। तीर्थयात्री तत्व की ओर यात्रा करता है। तीर्थ प्रारंभ का एक विधान होता है। सब की नररूप में कल्पना करना चाहिये। जैसे न्यास। स्थान का भी न्यास होता है और देवता तथा शक्ति का भी न्यास होता है। न्यास का तात्पर्य है देह के किसी भाग में शक्ति की स्थापना करना अथवा किसी देवता की स्थापना देहान्तर्गत् करना। स्थापना का तात्पर्य है भावना। भावना शक्ति द्वारा न्यास किया जाता है। यदि उचित रूप से देह में एक देवता का न्यास हो सके, उस स्थिति में यह अनुभव होगा कि पैर की वृद्धाङ्गुली से लेकर मस्तकस्थ केशाग्रभाग पर्यन्त सभी स्थान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में देवता की सत्ता है। मातृका का सम्यक् न्यास करने से यह अनुभव प्राप्त होता है कि पैर की वृद्धांगुली से लेकर केशाग्रपर्यन्त की सत्ता वर्णमाला से सजी है। अर्थात् वर्णमाला मनुष्याकृति हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य देह का गठन समस्त तत्व तथा समस्त भाव को लेकर हुआ है। अर्थात् हम देवता द्वारा निर्मित हैं, हम तीर्थों द्वारा निर्मित एवं गठित हैं।

तीर्थों में भी कर्मक्षेत्र तथा ज्ञानक्षेत्र की सत्ता होती है। मध्य में भावक्षेत्र होता है। प्राचीन काल में कुरुक्षेत्र ही कर्मक्षेत्र था।

"अन्य क्षेत्रे कृतं पापं कुरुक्षेत्रे विनश्यति।
कुरुक्षेत्रे कृतं पाप, वाराणस्यां विनश्यति॥
वाराणस्या कृतं पापं वज्रासन भविष्यति।"

कारण ज्ञानानन्तर कुछ भी नहीं है, अतएव जो ज्ञानकृत् पाप है, वह शीघ्र क्षयीभूत नहीं होता। वह वज्रासन हो जाता है। काशी ज्ञानक्षेत्र है, अतः यहाँ कृत पाप वज्रासन हो जाता है। वह कब क्षय होगा? काशी में ही देह त्याग होने पर, अनुशोचना होने पर, एक भोग हो जाने पर तथा दण्डित होने पर। पाप का दण्ड तो मिलेगा, परन्तु स्थान की महिमा के कारण कम समय में पापक्षय हो जाता है। तत्व दृष्टि से यह कहा जाता है कि अज्ञानकृत् पाप तीर्थाटन से नष्ट हो जाता है। इसी कारण गृहस्थ के लिये तीर्थयात्रा का विधान किया गया है। द्वितीयतः तीर्थस्थल में किया पाप काशी में जाकर नष्ट हो जाता है।

तीर्थयात्रा सात्विक भाव से करना चाहिये। सदाचारी होकर, मन में सद्भाव रखते हुये, तीर्थ की अधिष्ठात्री देवी की ओर अथवा तीर्थाधिष्ठात्री देवता की ओर एकलक्ष्य होकर तीर्थ यात्रा करने से तीर्थ की प्रसन्नता प्राप्त होती है। जिस तीर्थ का जितना सामर्थ्य है, वह प्रसन्न होने पर तदनुसार आशीर्वाद देता है। मनुष्य पाप-ताप क्षालनार्थ तीर्थयात्रा करता है। तीर्थस्थान पवित्र है और स्वभावतः पवित्र है। जो पवित्रभाव का स्मरण करते हुये तीर्थगमन करके यथोचित् कृत्य सम्पादित करता है, वह पापजाल से मुक्त हो जाता है। एक दृष्टिकोण और भी है। जैसे भ्रूमध्य में काशी की स्थिति है। नाभि के नीचे कामाख्या की सत्ता है। हृदय प्रदेश में साकेत (अयोध्या) का अधिष्ठान है। सहस्रदल कमल मध्य में वृन्दावन, गोकुल विराजमान है "सहस्रारं गोकुलं"। ये सब अन्तः तीर्थं हैं। हमारा देह तीर्थमय है। मनुष्य देह में ऐसा कोई स्थान नहीं है जो तीर्थ शून्य हो। जो ज्ञानपथ का पथिक है, वह भी तीर्थयात्री है। एक ऐसी भी अवस्था है जब आन्तरिक गंगास्नान का अनुभव होता है। इसी प्रकार मंत्र स्नान का भी विधान प्राप्त होता है। वायुस्नान, भस्मस्नान का भी अनुभव सिद्ध-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जन करते हैं। किन्तु इनमें से श्रेष्ठ स्नान कौन है ? सहस्रार मध्य विन्दु से जब अमृत क्षरण होने लगता है, और वह क्षरण नीचे उतरकर देह के समस्त तत्त्वों, कोषों, मातृकाओं, परमाणुओं, उपादानों को आप्यायित और शोधित कर देता है, तब यथार्थ स्नान सम्पन्न होता है। इस स्नान से बाहर भीतर सब निर्मल हो उठता है। यह मुख्य स्नान ही मुक्ति स्नान है। प्रकृत तीर्थयात्रा देह में ही होती है। भ्रूमध्य में उत्तीर्ण होना ही काशीयात्रा है और वहाँ अहं बुद्धि रूप देहाभिमान का त्याग ही काशी में मरण है। जिन्हें योग में अधिकार प्राप्त नहीं है, उनके लिये इस भौतिक काशी की व्यवस्था की गयी है। "प्रयाणकाले मनसा चलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव, भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुष मुपैति द्विव्यम्"

जनसाधारण के लिये भी एक स्थान विशेष की व्यवस्था की गयी है, जहां के तेज का सहाय लेने पर मृत्यु काल में काशीमृत्यु का फल प्राप्त होता है। असाधारण व्यक्ति तो अपने ज्ञान तथा भक्ति के विकास के कारण काशी मृत्यु के यथार्थ अधिकारी हैं। वाह्य स्थानों की व्यवस्था सर्वसाधारण के लिये की गयी है। भगवत् कृपा के अधीन होकर जीवनयापन करने वाले के लिये तथा शरणागत के लिये अन्तःप्रदेश में व्यवस्था है। यह देह तीर्थमय है। इसी प्रकार भारतवर्ष भी चतुर्दिक तीर्थाविष्ठित है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी पर्यन्त तीर्थ ही हैं। अतः प्राचीनकाल में आचार्यगण ने यह नियम बनाया था कि कन्याकुमारी से आरम्भ करके उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम समस्त तीर्थो में शुद्ध तेज का संरक्षण हो सके। उन्होंने अपने तपोबल से इसकी व्यवस्था भी किया था। तीर्थयात्रा का भी एक क्रमबद्ध नियम है। किस तीर्थ से होकर किस तीर्थ में जाना चाहिये ? कामाख्या से तीर्थयात्रा का श्रीगणेश करना चाहिये। तदन्तर मायापुर, तत्पश्चात् हिमालय के उपर कैलाश पर्यन्त की यात्रा करे। यह सम्प्रदाय विशेष का क्रम है। कैलाश पर्वत का मध्य बाह्य सहस्रार का ही विन्दु है। यह अति दुरुह रहस्य है और गुरुगम्य है। वैसे सभी स्थानों पर सब कुछ है। प्रत्येक तीर्थ में अन्य तीर्थ भी विराजित रहते है। उदाहरणार्थ काशी में सभी तीर्थ का वास है। काशी में यह समुज्वल रूप से प्रत्यक्ष हो सकता है। अन्य तीर्थो की सर्वतीर्थमयता का साक्षात्कार करना कठिन एवं प्रयत्नसाध्य विषय है। ऋषिगण कहते हैं कि यदि किसी एक तीर्थ में जाकर वहाँ सब तीर्थों के हेतु जलादि अर्पण किया जा सके उस स्थिति में वहीं से समस्त तीर्थों की अर्चना सम्पन्न हो जाती है।

तीर्थयात्रा में संयम, संयतभाव तथा एक लक्ष्य की आवश्यकता है। मिथ्यावार्त्ता तथा मिथ्याचार का वर्ज्जन, संसार चिन्ता का वर्ज्जन आवश्यक हैं। यहाँ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तक कि गृह परिवार की चिन्ता का भी त्याग करना श्रेयस्कर है। यात्राकाल में समस्त मन प्राण से एकमात्र इष्टदेव का ही चिन्तन करते रहना चाहिये। प्रकृत तीर्थयात्री यदि बद्रीनारायण जा रहा है, उस अवस्था में घर से निकलने के क्षण से ही उसकी दृष्टि बद्रीनारायण के चिन्तन में आबद्ध रहती है। वे ही एकमात्र लक्ष्य रहते हैं। इससे यह लाभ होता है कि यदि प्रकृत तीर्थयात्री बद्रीनारायण न पहुंच सके और उसका मृत्युकाल आ जाये, तथापि उसे बद्रीनारायण का दर्शन प्राप्त होकर रहता है। यदि कामाख्या जाना है, तब प्रथम क्षण से ही कामाख्या की चिन्ता में एकान्तिक रूप से निरत हो जाना चाहिये। तीर्थ में पहुंचकर तीर्थ के अधिष्ठाता देवता को प्रणाम करके परिक्रमा करना चाहिये। उन्हें हृदय में अभिन्न रूप से स्थापित करके अन्य तीर्थों की ओर उन्मुख होना चाहिये। देह सर्वभावमय है, अतः हम देह में सभी तीर्थों को भावरूप से स्थापित करते हैं। उस-उस तीर्थ के तेज को अपने अन्दर प्रतिष्ठित करते हैं। जो शास्त्रीय प्रक्रिया करने में अक्षम है, यागयज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकता, उसके लिये नियमानुसार तीर्थ सेवन ही प्रशस्त है।

परमपद

मनुष्य का चरमलक्ष्य है परमपद किन्तु इसके स्वरूप का निदर्शन सर्वत्र प्राप्त नहीं होता। वेद में उक्त है "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्" इससे ज्ञात होता है कि दिव्य सूरीजन विष्णु के इस परमपद का निरन्तर अनिमेष दृष्टि से दर्शन करते रहते हैं। इसका स्वरूप चक्षु के आकार का है। द्युलोक में आतत एवं व्याप्त चक्षु का आकार जिस प्रकार का है, यह भी वैसा ही है। "सदा पश्यन्ति" इस वाक्यांश से ज्ञात होता है कि इस पद का दर्शन निमेष उन्मेष युक्त दृष्टि द्वारा कदापि नहीं हो सकता। प्राण तथा मन की चंचलता के कारण दृष्टि का उन्मेष एवं निमेष चलता रहता है। प्राण, मन तथा इन्द्रियों के शांत होने पर मात्र ज्ञाननेत्र द्वारा इसका दर्शन मिलता है। मनुष्य का तृतीय नेत्र ही ज्ञाननेत्र है। अज्ञानावस्था में परमपद का दर्शन असंभव है। इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमपद में प्रवेशाधिकार मिलता है अथवा नहीं, इसकी विवेचना संदर्भित मंत्र में नहीं है।

दिव्य सूरिगण सर्वदा दृश्यमान इस परमपद में प्रवेश करते हैं कि नहीं इसके लिये दोमत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार इसका मात्र दर्शन ही हो सकता है, प्रवेश नहीं हो सकता। आज तक किसी ने भी इसमें प्रवेश नहीं किया है। द्वितीय मत के अनुसार इसमें प्रवेश संभव है। इस द्वितीय मत के भी अन्य भेद दृष्टिगोचर होते हैं। एकमत के अनुसार प्रयोग की योग्यता रहने पर वर्तमान देह की समाप्ति पर इसमें प्रवेश मिलता है। इसमें भी दो विकल्प हैं। मरण काल में स्वाभाविक क्रम से देहात्मबोध निवृत होने पर प्रवेश संभव है, अथवा देहावस्थान काल में स्वेच्छया देहात्मबोध त्यागने से प्रवेश संभव है। देहावस्था में प्रवेश करने पर देहपात् अवश्यम्भावी है, अथच देहावस्था में प्रवेश करने पर भी देहसत्ता अक्षुण्ण रह सकती है। अपक्व एवं असिद्ध देह का देहपात अवश्यम्भावी है। सिद्ध तथा पक्व देहयुक्त होकर प्रवेश करने से प्रवेश तो हो जाता है, परन्तु देहबोध लुप्त हो जाता है, तथापि वापस लौटने पर पुनः देहबोध प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परमपद के सम्बन्ध में जितने भी मत प्रचलित हैं, सभी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणानुसार ही हैं।

वेदान्त की एक जीववादी मान्यता के अनुसार किसी विद्वान के मत से एक जीव की मुक्ति होने पर समग्र विश्व की मुक्ति साधित हो सकती है, तथापि एक जीव की मुक्ति आज पर्यन्त नहीं हो सकी। यदि इस सृष्टि का एक भी जीव मुक्त हो सकता, उस अवस्था में समस्त विश्व की मुक्ति हो सकती थी। इस दृष्टिकोण से शुकदेव, वामदेव प्रभृति की मुक्ति पर भी एक प्रश्नचिन्ह सा लग जाता है। इनके मतानुसार एक जीव भी यदि परमपद में प्रविष्ट हो सकता, उस अवस्था में जगत का स्वरूप दुःखमय न रहकर आनन्दमय हो जाता। उस स्थिति में काल का जगत् आनन्दमय श्री भगवान की लीला भूमिरूप में सब के सन्निकट अनुभूत होता। यह आजतक नहीं हो सका। अतः यह युक्ति संगत है कि आज पर्यन्त परमपद में किसी जीव का प्रवेश नहीं हो सका है। आकाश में सूर्य का उदय होने पर उसकी अपनी शक्ति द्वारा उसके अस्तित्व का प्रकाशन हो जाता है। अतएव एकमात्र प्रकृत सत्य का द्रष्टा उस सत्य का सचराचर में हस्तामलकवत् प्रकाशन करने में समर्थ हो जाता। पूर्वोक्त वैदिक मन्त्र से यह प्रमाणित होता है कि ऋषि मुनि की तो बात ही क्या, दिव्य सूरीजन भी उस परमपद का मात्र दर्शन ही करते हैं। उसमें प्रवेशाधिकार से वे वंचित हैं। सूरिजन अप्राकृत देहधारी हैं। किसी किसी सूरिजन की प्राकृत-देह भी उनकी अप्राकृत देह के साथ संयुक्त है। जो मात्र अप्राकृत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देहधारी हैं, उन्हें दिव्यसूरि कहते हैं। प्राकृत देहयुक्त अप्राकृत देहधारी को मात्र सूरि कहा जाता है।

अन्य मतानुसार जिन्होंने परमपद में प्रवेश के तथ्य को स्वीकारा है, वे देहावस्थान काल में भी परमपद में प्रवेश के तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। इनमें से जिनकी देह का अप्राकृत देह में परिवर्तन नहीं हो सका है, जिनकी प्रकृत देह अपक्व है—अर्थात् जो मिश्र अवस्था में हैं, उनकी प्राकृत् देह परमपद में प्रवेश करते ही नष्ट हो जाती हैं। अतः वे वहां से वापस लौटने में असमर्थ हैं, उनका निर्गम नहीं होता। उनकी देह का अप्राकृत देहरूप में परिवर्तन हो जाता है और वे वहीं रह जाते हैं। अन्य पक्ष से जिनकी प्राकृतदेह पक्व है, वे परमपद में प्रवेश कर सकते हैं। उनकी यह देह प्रणवतनु में परिणत हो जाती है। वे वहां से लौट सकते हैं। उनका निर्गम हो सकता है। निर्गम होने पर उन्हें सिद्ध देह की प्राप्ति हो जाती है। यह देह अजरामर है। इनमें से कोई-कोई विश्वकल्याणार्थ सिद्ध देह प्राप्त करके प्रणवतनु में प्रतिष्ठित होकर प्रणवदेह से पुनः सिद्धदेह में प्रत्यावर्तन करते हैं। लोक कल्याण की शुद्धभावना रूपी शुद्धवासना परितृप्त हो जाने के पश्चात्, वे पुनः प्रणवतनु से सिद्धदेह में प्रत्यावर्तन नहीं कर सकते।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान के परमधाम का वर्णन है। वहां जाने के पश्चात् प्रत्यावर्त्तन नहीं होता। वह पूर्ववर्णित परम पद का ही नामान्तर है। गीता में अन्यत्र उक्त है कि भगवद्स्वरूपगत परमपद में प्रवेशार्थ क्रमावलम्बन आवश्यक है। इसके लिये नैतिक जीवनोत्कर्ष की साधना द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त करना चाहिये। ब्रह्मपद ज्ञान की परानिष्ठा को कहते हैं। यह परमपद का प्राथमिक सोपान मात्र है। ब्रह्मभूत होने पर चित्त निर्मल होता है। इस निर्मलता से पराभक्ति का उन्मेष होने लगता है। इसके प्रभाव से पुरुष सम्बन्धित साधारण ज्ञान का उदय होता है। सर्वान्त में तात्विक ज्ञान का उदय होते ही उसे प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। भगवान का यह परमधाम सूर्य, चन्द्र, अग्नि से अतीत है। परम द्युतिमान है। किसी के मत से यह व्युत्थानहीन निरोध स्थिति का वर्णन है। यहां यह स्मरणीय है कि जैसे यहां व्युत्थान नहीं है, वैसे ही निरोध भी नहीं है। अतएव उक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। किसी के मत से यह नैमित्तिक समाधि है, किन्तु वास्तव में परमपद समाधि नहीं है। कारण, नित्योदित समाधि में व्युत्थान एवं समाधि का सामरस्य विद्यमान रहता है। इसका विवरण "क्रमसूत्र" में अंकित है। परमपद इन सभी स्थिति से परे तथा विलक्षण है। विष्णु का परमपद सर्वोच्च पद हैं किन्तु उसके निम्नदेश में भी अनेक पद विद्यमान हैं। ये सब भी भगवत् धाम है। इन निम्नपदों से वापस लौटा जा सकता है। इन्हीं पदों से अवतरण भी होता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैष्णव सम्प्रदाय में परमपद, परव्योम, परमव्योम, वैकुण्ठ प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। ये सब भगवान् की नित्य विभूति हैं। पूर्वोल्लिखित भगवान् के इन पादों में उर्ध्वत्रिपाद, नित्यविभूति परमपद, परव्योम तथा परमव्योम हैं। वैकुण्ठ रूपी एक पाद को लीलाविभूति कहा गया है। नित्यविभूति अप्राकृत है। उदयान्तहीन एवं स्वप्रकाश है। ऋग्वेद ने "त्रिपादस्य अमृतं दिवि" एवं "विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" रूप से नित्यविभूति का ही संकेत दिया है।" "स्वयं रजसः तमसः पराके" भी नित्यविभूति का वैदिक निदर्शन है। श्रीमद्भागवत में भी इसका वर्णन है।

अब वैंकुण्ठ शब्द का सामान्य अर्थ जानना चाहिये। माध्वसम्प्रदाय के वैष्णव जन अनन्त आसन, श्वेत द्वीप तथा वैकुण्ठ में किंचित् भेद का उल्लेख करते हैं। उनके मत से परमपद "दिवः परः" संज्ञा से अभिहित है। यही परमपद है। आकाशस्थ सूर्यमण्डल द्युलोक है। उससे परवर्त्ती "दिवः परः" श्वेतदीप है। इनके मत से श्वेतदीप भी परमपद है। द्युलोक के इन्द्र सदन को ही द्युलोक कहा जाता है। माध्व सम्प्रदाय के अनुमार तत्परिवर्त्ती वैकुण्ठ को भी "दिवः परः" कहा जा सकता है। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि एक ही "दिवः परः" दृष्टिभेद से भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित किया जाता है। परमपद एक और अखण्ड है। अखण्ड और अद्वय होने पर भी प्रत्येक लोक के द्युस्थान अथवा उर्ध्वतम स्थान से यह दृष्टिगोचर होता है। यह "दिवः परः" संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसी कारण अनन्त आसन, श्वेतद्वीप और वैकुण्ठ परस्पर पृथक् होने पर भी परमपद एक और अभिन्न है। परव्योम तथा परमव्योम का प्रयोग ऋग्वेद में भी परिलक्षित होता है। परव्योम के त्रिपाद का उल्लेख महानारायण उपनिषद् में अंकित है।

पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म की नित्यविभूति त्रिपाद है और लीलाविभूति एकपाद है। अखण्ड विराट् ब्रह्माण्डसमन्वित प्रकृति इस एकपाद विभूति के अन्तर्गत है। त्रिपाद एवं एकपाद विभूति के मध्य का व्यवधान विरजानदी अथवा कारण सलिल के नाम से ख्यात है। जीव का कारणदेह यहीं पर विगलित होता है। सूर्यमण्डल का भेद करने पर ही विरजा की प्राप्ति संभव है। सूर्यमण्डल में प्रवेश के साथ लिंगदेह विनष्ट हो जाता है। उत्क्रमण काल में ब्रह्मरंध्र भेद करने पर स्थूल देह का भेदन होता है। स्थूल देह का भेद होने के पश्चात् सुषुम्ना रश्मि के द्वारा सूर्यमण्डल की ओर गति होती है। सूर्यमण्डल भेद के उपरान्त विरजानदी में अवगाहन के समय कारण सलिल (कारणदेह) लीन हो जाता है। विरजा उन्मज्जन के साथ विशुद्ध देह प्राप्त हो जाती है। इसी विशुद्ध देह के द्वारा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैकुण्ठ में प्रवेश किया जाता है। यह देह अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय देह है। इसे पञ्चब्रह्ममय अथवा पञ्च उपनिषद्मय देह भी कहते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चतुर्दश भुवन हैं। इस प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा सप्तावरण की सत्ता परिलक्षित होती है। जो चिदानन्दमयी सत्ता इन सभी आवरणों से अतीत विराजित है, वही परमव्योम दिव्यलोक अथवा वैकुण्ठ है। यह ब्रह्मादि से, वाक् मन से अगोचर तथा कार्यकारणातीत है।

अन्य मत से परमपद स्थान विशेष है और स्वरूप से भिन्न है। किसी के मत से स्वरूप तथा स्थान में अभेद है। यह कहीं अनन्त है तो कहीं अविच्छिन्न। त्रिगुण भी अनन्त है, किन्तु यह त्रिगुणातीत होने के कारण विशेष महिमायुक्त है। यह अचेतन होकर भी स्वप्रकाश है।

उक्त है :—

तत्रानन्दमया भोगा, लोकश्चानन्दलक्षणाः।
आनन्दनामकं लोकं परमानन्द लक्षणम्॥
तयोर्या परम व्योम निर्द्वंद्व, सुखमुत्तमम्।
षाड्गुण्यप्रसरो नित्यः दिव्यः मंगल विग्रहः॥

भगवान् का दिव्य मंगल विग्रह जिस प्रकार ज्ञानात्मक है, यह भी उसी प्रकार ज्ञानात्मक है, तथापि यह धर्मभूत ज्ञान के समान पराक्, प्रत्यक् नहीं है। कारण, यह अन्य के प्रति प्रकाशमान होता है। जैसे सुषुप्ति के समय धर्मभूत ज्ञान का प्रकाश नहीं रह जाता, उसी प्रकार बद्धावस्था में शुद्धसत्व भी अप्रकाशित ही रह जाता है। बद्धावस्था में इसकी सिद्धि ज्ञान के विषय रूप में होती है। मुक्तपुरुष-गण का अत्यन्त वैभव होने पर भी यह तन्निरपेक्षवत् है। यह उसी प्रकार है जैसे आत्मा ज्ञान का विषय होने पर भी स्वप्रकाश है। किसी के मत से शुद्ध सत्ता को स्वप्रकाश कहा जाता है, क्यों कि वह अत्यन्त दीप्तिसम्पन्न है। इसे ज्ञान संज्ञा प्रदान करने का यह कारण है कि यह ज्ञान को आवरित नहीं करता। इसे आनन्द-रूप भी कहते हैं, क्यों कि यह अनुकूल रूप, रस, गन्ध युक्त है, तथापि स्वरूपतः यह आनन्द और स्वप्रकाश नहीं है। यह पचोपनिषद का प्रतिपाद्य, पञ्चभूत इन्द्रिय सम्बन्ध है। जैसे प्राकृतजगत् में पचभूत तथा इन्द्रिय समूह का दर्शन होता है, वैसे ही अप्राकृत होने पर भी यह पञ्चभूत तथा इन्द्रिय युक्त लक्षित होता है। ईश्वर तथा नित्यमुक्त महापुरुष इच्छानुरूप शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा विषय का वरणकर अव-स्थान करते है। इनका शरीर, इत्यादि कर्मजन्य नहीं है। अतः इस जागातिक परि-भाषा के अनुरूप शरीर इन्द्रिय, प्राण तथा विषय की संज्ञा प्रदान करना अनुचित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भट्ट पराशरपाद के मतानुसार ईश्वरादि मे मन की भी सत्ता है। श्रुति के अनुसार "मनसा एतान् पश्यन् रमते" तथा "मनोऽस्य दिवं चक्षुः", "सह अन्य कामं मनसा ध्यायते", "मनसैव जगत् सृष्टम्" आदि द्वारा मन की सत्ता को प्रमाणित किया गया है। यही नहीं, पाणि प्रभृति अन्य अवयव (अंग), भूषण, आयुध आदि के सम्बन्ध में भी धारणा स्थापित है, अर्थात् ईश्वरादि के अवयव हैं और उनका शरीर भूषणादि द्वारा शोभित रहता है। लीला भूमि में इन सब वैचित्र्यों का होना आवश्यक है, अन्यथा लीला ही नीरस हो जाती। विशुद्ध सत्त्व इन सबसे मंडित होकर, विचित्र रूप धारण करके लीला को पुष्ट करता है। अन्य मतानुसार प्रकृति में २४ तत्त्वों की सत्ता है। इसी प्रकार अप्राकृत सत्ता (विशुद्ध सत्त्व युक्त ईश्वरादि में) में भी २४ अप्राकृत तत्त्व विद्यमान हैं। प्राकृत तत्त्वों मे काल जनित विकृति भाव का तथा परिवर्तन का दर्शन होता है, और एक तत्त्व से अन्य तत्त्व का परिणाम नियत क्रम के अनुसार ही होता है, परन्तु विशुद्ध सत्त्व में परिणाम होने पर भी प्रकृति विकृति (एक तत्त्व से क्रमानुसार अन्य तत्त्व का प्रकटीकरण) भाव नहीं होता। भगवददिच्छा अथवा मुक्त पुरुष की इच्छामात्र से विशुद्ध तत्त्व से ही अभीष्ट तत्त्व किंवा भाव की परिणति होती रहती है।

श्रुति प्रमाणानुसार समस्त दिव्य विग्रहादि नित्य हैं। दिव्य विभूति में शरीरादि संस्थान प्रायः सामान्य प्राकृत के अनुरूप होते हैं। नित्य विभूति के अन्तर्गत कोई कोई विषय परिणामहीन एवं नित्य होने पर भी, कोई-कोई विषय परिणामी तथा अनित्य भी परिलक्षित होते हैं। नित्य विषय के अन्तर्गत भूषण, आयुध, आसन, परिवार, आयतन, उद्यान वाटिका, क्रीडा पर्वत आदि की गणना होती है। परिणामी (अनित्य) विषय के अन्तर्गत वृक्षस्थ पल्लव कुसुम, नदी की तरग तथा विग्रह के विनवादि का उल्लेख किया जाता है। अनित्य होने पर भी नित्य विभूति का परिणामी विषय कालकृत् नहीं है तथा वह कर्मादि का फल भी नहीं है। इनकी रचना भगवत् संकल्प से होती है। नित्य जीव एवं ईश्वर का कोई-कोई शरीर नित्य होता है और कोई शरीर अनित्य भी हो सकता है। नित्येच्छा परिग्रहमूलक शरीर नित्य तथा अनित्य इच्छा मूलक शरीर अनित्य होता है। मुक्त पुरुषगण का जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है। कारण मुक्त पुरुषगण कभी शरीरी तथा कभी अशरीरी अवस्था में संचरण करते रहते हैं। श्री भाष्य में इसका वर्णन है। नित्य धाम की सभी इन्द्रियां नित्य हैं। वे इन्द्रियां आकाश के समान उपादान निरपेक्ष सत्ता से सत्तान्वित हैं। उनमें से अनेक नित्य पुरुषगण तथा ईश्वर के लिये अनादि काल से प्रयुक्त होती आ रही हैं। मुक्तपुरुषगण का इन्द्रिय परिग्रह भी उनके शरीर परिग्रह के समान सामयिक ही रहता है। इनका शरीर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिग्रह भगवद् अभिप्रेत तत्कैंकर्य्य स्वरूप भोग के लिये ही है। इसके अतिरिक्त भगवान के स्वभोगार्थ तथा स्वांङ्गीभूत नित्यमुक्त पुरुषों को आनन्द प्रदान करने के अभिप्राय से एवं मुमुक्षु वर्ग की उपास्यता सिद्धि के लिये इनका शरीरादि परिग्रह होता है। भगवान का यह शरीर परिग्रह कभी-कभी केवल मात्र परम पुरुष के संकल्प से होता है और कभी-कभी मित्यसंकल्प का अनुसरण करते हुये स्वसंकल्पानुसार भी हो सकता है।

वेदान्तदेशिकाचार्य से "परमपद सोपान" नामक ग्रन्थ की रचना किया है। इसमें परमपद मार्गस्थ ९ अवस्थाओं का वर्णन है। विवेक, निर्वेद, विरति, भीति-भाव तथा उपाय की गणना पश्चोपाय के अन्तर्गत उल्लिखित है। उत्क्रमण, अर्चि-रादि, दिव्यदेशप्रभाव तथा प्राप्ति को आरोहण के अन्तर्गत परिगणित किया है। विवेक शब्द का तात्पर्यार्थ है कि ब्रह्म की शरीरी तथा आदिरूप मे उपासना। कर्म एवं पायवशात् उदित अनुताप का नाम है निर्वेद। लौकिक एवं पारलौकिक भोग विषय से वैराग्य एवं कैवल्य के प्रति अनिच्छा, यह विरति है। संसार भय का नामान्तर है, भीतिभाव। भक्ति एव प्रपत्ति के फल से भगवान एवं गुरुकृपा जनित अहंकार नाश को ही उपाय रूप से उपादेय बतलाया गया है। मुक्ति का अर्थ है परमपद की पुनः प्राप्ति। आत्मा मुक्त होकर कहीं मिल नही जाती, प्रत्युत उसे ब्रह्मरस, ब्रह्मगन्धादि अवस्था की प्राप्ति होती है। परमपद में काल प्रभाव नहीं है। महाभारत के शान्ति पर्व में उक्त है "कालं न पचते तत्र न कालः तत्र वै प्रभुः"। परमपद अप्राकृत आनन्दलोक तथा आकाशस्वरूप है। यह अजड़ ज्ञानवत् स्वप्रकाश है और आत्मा के भोगार्थ परिरचित है। यह स्थान कोटि-कोटि सूर्य के समान समुज्वल है। उक्ति है "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"। कौषीतकी उप-निषद् तथा रामानुजकृत वैकुण्ठ गद्य में इसका वर्णन किया गया है। वैकुण्ट गद्य तथा परमपद सोपान मे भगवान श्री हरि का वर्णन है। प्राकृत जगत् (अचित्) ही उनका श्रीवत्स है तथा अप्राकृत् जगत् उनकी कौस्तुभ मणि है। देहधारण करना उनके लिये बन्धनात्मक नहीं हैं, आनन्द लीलार्थ है। नित्यसूरिगण परमपद का जिस प्रकार अनुभव करते हैं उसे नित्यवर्त्तमान (eternal now) रूप से कहा जा सकता है। तैत्तरीय ब्राह्मण ने "परमपद व्योम" शब्द से परमपद को ही लक्षित किया है। रामायण में "तच्चाकाशं सनातन" तथा महाभारत में "दिव्य-स्थानं अजनं चाप्रमेयं" रूप से परमपद की ही स्तुति की गयी है। नित्यसत्त्व उर्ध्व प्रदेश अनन्त है तथा अधः प्रदेश सीमित एवं परिच्छिन्न है। नित्यसत्त्व में अप्राकृत पंचशक्ति की क्रीडा चलती रहती है। जो परमपद तथा नित्यविभूति को प्रकृति का अंग मानते हैं, उनके विचार असंगत हैं। इस परमपद में रूप, रस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आदि सब कुछ है, तथापि कोई भी प्राकृत नही है, वरन् सभी अप्राकृत है। वहां की विभूति आमोद, प्रमोद, सम्मोद तथा वैकुण्ठ भेद से चतुर्विध है। यह विभूति अनन्त भी है। इसमें द्वादश आवरण सहित गोपुर तथा प्रागंण प्रभृति द्वारा आवेष्ठित वैकुण्ठ गामक नगर है। आनन्द नामक दिव्य आलय है। इसमें रत्नखचित स्तम्भो से विरचित, मणि खचित महामणिमण्डप नामक सभा की सत्ता है। इसमें सहस्त्रफण युक्त भगवान अनन्त विराजमान हैं। अनन्त के ऊपर धर्मं-ज्ञान-वैराग्य तथा ऐश्वर्यमय पादविशिष्ट एक दिव्य सिंहासन स्थित है। उसके ऊपर चामर लिये विमलादि सखी अष्टदल कमल की सेवा करती रहती हैं। उसके ऊपर प्रकृष्ट विज्ञानमूलक शेष विराजित हैं। शेष के ऊपर वाक्य एव मन से अगोचर वह परम अव्यक्त अद्भुद् वस्तु विराजमान है।

भगवान् के अस्त्राभूषण भी दिव्य हैं। बुद्धि ही उनकी हस्तस्थित गदा है। सात्विक अहंकार शंख रूप में, तामसिक अहंकार शाङ्‌र्ग धनुष रूप में तथा ज्ञान खड्ग रूप में सुशोभित है। अज्ञान ही उनका आवरण कोष है। मन ही चक्र है और ज्ञानेन्द्रिय पंचक के रूप में शर (तीर) विद्यमान है। समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल भूतसमूह उनकी वनमाला है। कौषीतकी उपनिषदोक्त पर्यंक विद्यामें तथा शाण्टायनी गणशास्त्र में भगवत् स्वरूप का किंचित् उल्लेख है। श्रीरामानुज के गुरु यादवप्रकाश ने परमपद के सम्बन्ध में अपने मत का प्रकाशन किया है। इनके मतानुसार "अक्षरे परमे व्योमन्" मे परमव्योम शब्द है जों परमपद का वाचक है। यह त्रिगुण परिणाम एवं अव्यक्त तथा तमोगुण, दोनों के अन्तरालस्थित ईश्वर तथा मुक्तपुरुषगण के भोगस्थान स्वरूप द्वैतात्मक संसार में विसर्ग अविद्यारूप भेद का उन्मीलन करता है। शिवाद्वैत में संसार के साथ विद्यारूप मे अभेदभाव ग्रहण किया जाता है। परशिव का संसार भेदाभेद मिश्र है। अतएव यहां विसर्ग से एक साथ विद्या एवं अविद्या रूप से भेद एवं अभेद, दोनों का प्रकाशन हो जाता हैं। यही सामरस्य है। यह एक अद्भुत रहस्य कहा गया है। सिद्धों के मतानुसार भेद और अभेद को एकरूप से देखना ही संसार है। इसमें कलंक है। शुद्ध अन्तर्मुख भावरूप विश्राम का इसमें अभाव है। महाविन्दु संसार द्वारा पूर्णतः अस्पृष्ट है। यह परम अनुत्तरधाम है। यह पूर्ण विमर्श स्वभाव है और महाविश्रान्ति का स्थल है। इसकी भी एक परावस्था है। सकल महाविन्दु की तुरीय अवस्था में प्रपंच नहीं रहता तथापि प्रपञ्च की, कामकला की, गन्ध किंचित् परिमाण में स्थित रह जाती है। वह निष्कल महाविन्दु में समाप्त होती है। वही निष्कल महाविन्दु ही परमव्योम है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वत्र संसार विद्यमान है। शुद्ध महाबिन्दु पद में संसार समाप्त हो जाता है। यह अन्तर्मुख विश्राम भूमि है। अनुत्तर परम धामस्वरूप है। प्रकारान्तर से महाबिन्दु की २ स्थिति है। प्रथम है स्वभाव पूर्ण विमर्श। विमर्श ही संसार का उपादान है। यद्यपि यह महाविश्रान्ति पदवाच्य है तथापि इसमें संसारानुसंधान गंध विद्यमान रह जाती है। यह तुरीय पद भी है। महाबिन्दु की द्वितीय स्थिति परमव्योमरूपा है। यह है तुरीयातीत पंचाम्नाय शोधित निष्कल महाबिन्दुरूप परमपद। चित्रकूटवासी सन्त महात्मा सीतारामदास बाबा कहा करते थे कि महासत्ता में ३ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है। यह है परम शून्य स्थान। शून्य के पश्चात् का द्वितीय खण्ड तेजपुञ्ज रूप एवं कोटि सूर्य के समान उज्वल है। अनेक साधक इसका भेदन करने में समर्थ नहीं होते। प्रथम खण्ड अक्षर है। यह शून्य स्थान है। इसे अक्षर ब्रह्म भी कहा गया है। इसके पश्चात् निरक्षर पद है। यह महाशून्यरूप है। इसमें भी २ पद हैं। प्रथम है सहज पद और द्वितीय है अचिन्त्य परमपद। सर्वान्त में निरक्षर की अतीत स्थिति अनुभूत होती है। यहीं सत्यलोक अवस्थित है। तदनन्तर कुमारलोक तथा चरम स्थिति में उमालोक है। इन सब को परमधाम ही कहते हैं। यहां सत्पद, अलक्ष्यपद, अगमपद (श्रीकृष्णपद) तथा अनामीपद (श्रीराम पद) अवस्थित है। अनामीपद परमपद का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप विकास है। वशिष्ठ संहिता के अनुसार परमपद वैकुण्ठ से अभिन्न है। वह विरजा के परपार स्थित है। गोलोक इससे परवर्त्ती कहा गया है। गोलोक सर्वेन्द्रिय गोचर भी है। गोलोक का महाबिन्दु साकेत है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोणानुसार श्रीराम एवं श्रीकृष्ण की लीलाभूमि साकेत के ही अवान्तर प्रदेश में अनुभूत होती है। पूर्व में मिथिला, दक्षिण में चित्रकूट, पश्चिम में वृन्दावन, उत्तर में महावैकुण्ठ विराजमान है। महावैकुण्ठ में पार्षदों के साथ स्वयं नारायण विराजित हैं। साकेत के भी सात विभिन्न आवरणों का उल्लेख प्राप्त होता है। दिव्य अयोध्या के अन्तर्गत् द्वादश वन सुशोभित होते हैं।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में परमपद का भिन्न-भिन्न वर्णन प्राप्त होता है। नित्यलीलावादी भक्तों के सिद्धान्त से परे एक चिन्मय तथा आनन्दमय राज्य की सत्ता है। कालराज्य तथा आनन्दमय राज्य के मध्य विरजा (कालिन्दी) उभय-लोक के व्यवधानरूप में विराजित है। यह विरजा ही कारण सलिल है और उसके परपार स्थित समग्र भूमि महाकारण सत्ता का ही अंग है। वह अप्राकृत भूमि है, जहाँ त्रिगुण की कोई क्रीड़ा नहीं होती। उसका उपादान है शुद्ध सत्व रूप आनन्द से उद्भासित सत्ता। भक्तों के भाव के अनुरूप अथवा भक्ताधिष्ठाता भगवान के संकल्प के अनुरूप यह शुद्धसत्व ही आनन्दरूप धारण करता है। वहाँ काल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रभाव तथा अविद्यावरण नहीं है। वहाँ कर्मबीज दग्ध है और निर्बीज क्रियाशक्ति ही प्रकट रहती है। वहाँ सृष्टि तथा संहार रूप काल का लेशमात्र भी नहीं है।

•

रस साधना

ब्रह्मतत्त्व का अर्थ है जब परमसत्ता में किसी गुण अथवा शक्ति का कोई प्रकाश नहीं रहता। ब्रह्म निर्गुण तथा निःशक्तिक है। सच्चिदानन्द तत्त्व हीं ब्रह्मतत्त्व है। जब गुणों का प्रकाशन होता है और शक्ति भी प्रकाशित हो जाती है, तब वह भगवत् तत्त्व अथवा परमात्म तत्त्व है। गुण का प्रकाशन हुये बिना निर्गुण निराकार ब्रह्म सगुण साकार के रूप में कभी भी परिणत नहीं हो सकता। इस कारण गुणमय तत्त्व आवश्यक है। भक्तगण कहते हैं कि ६४ कलाओं के ६४ गुणों का पूर्ण प्रकाश एकत्रित होने पर जो तत्त्व प्रकट होता है उसमें अनन्त शक्ति का प्रकाश प्रतिफलित होने लगता है। यह तत्त्व ही "स्वयं भगवान है।" उनके अन्दर अनन्त शक्ति के साथ ही ६४ गुणों का भी प्रकाश परिव्याप्त रहता है। ६४, गुणों से कम की सत्ता रहने पर अनन्त शक्ति का प्रतिफलन नहीं हो सकता। गुणों की किंचित् न्यूनता होने पर अनन्त शक्ति का प्रतिफलन नहीं हो सकता, यह सत्य है, तथापि ऐसी स्थिति में भी लाखों करोड़ों शक्ति का प्रकाश अवश्य हो सकता है। करोड़ों की संख्या अनन्त पदवाच्य नहीं है। अतएव ६४ गुणयुक्त को "स्वयं भगवान" तथा ६४ गुणों से किंचित् न्यून गुणयुक्त सत्ता को मात्र "भगवान" कहते हैं। भगवान तथा स्वयं भगवान में यही पार्थक्य है। "स्वयं भगवान" अन्य निरपेक्ष सत्तायुक्त हैं। भगवान की स्थिति अन्यसापेक्ष है। गुणों की न्यूनता के कारण भगवान को अन्य की अपेक्षा रहती है। शास्त्रकारों के अनुसार "भगवान" "स्वयं भगवान" के विलासमात्र हैं। जैसे रासलीला काल में एक श्रीकृष्ण ने असंख्य श्रीकृष्ण का विकास किया था। प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण का योग हुआ था। क्या मूल कृष्ण (जो राधा के साथ थे) तथा गोपिकाओं के साथ लीलारत असंख्य कृष्ण में कोई पार्थक्य था? सभी कृष्ण एक ही थे। गुणगत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तारतम्य से, शक्तिविकासगत् तारतम्य से उनमें कोई भेद ही नहीं था। बहुत्व का अर्थ है प्रकाश। गोपिकाओं के साथ वाले कृष्णसमूह को मूल कृष्ण का ही प्रकाश कहा जा सकता है। स्वयं भगवान् तथा कृष्णसमूह में कोई पार्थक्य नहीं है। न्यूनता होने से उस सत्ता का नाम "विलास" हो जाता है, परन्तु यहां मूलकृष्ण तथा कृष्ण समूह में तारतम्यगत कोई न्यूनता नहीं है, अतः इस विकास को "प्रकाश" कहते हैं। यह दोनों अवस्था भगवान की लीला के अन्तर्गत है। गुणों का न्यूनाधिक्य जहां है, वहां भी स्वरूपगत ऐक्य की ही सत्ता रहती है। जो सच्चिदानन्द तत्त्व ब्रह्मरूप से प्रतिष्ठित है, वही सच्चिदानन्द स्वयं भगवान् संज्ञा से अभिहित है, तथापि जहां गुण अथवा शक्ति का किंचिए प्रकाश नहीं है, उसे ब्रह्म कहा जाता है। जहां पर ६४ गुण युक्त होने के कारण अनन्त शक्ति का प्रकाश है उसे स्वयं भगवान, तथा जहां ६४ गुण से किंचित न्यूनता है, अतः शक्ति का अनन्त प्रकाश नहीं है उसे "भगवान" कहते हैं। जहां गुणों की और भी अधिक न्यूनता है, उस तत्त्व को "परमात्मा" कहते हैं।

परमात्मा में किस शक्ति का प्रकाश होता है ? परमात्मा में अनन्त शक्ति समन्वित स्वरूपशक्ति का आभास मात्र प्रकाशित होता है। इसके साथ ही उसमें जीवन शक्ति एवं मायाशक्ति भी स्थित रहती है। अनन्त शक्ति त्रिधा विभक्त है यथा अन्तरंग, बहिरंग तथा तटस्थ। अन्तरंग शक्ति ही स्वरूप शक्ति है। बहिरंग शक्ति को मायाशक्ति कहते हैं। यह स्वरूप के बाहर रहती है। तटस्थ शक्ति ही जीवनी शक्ति है। इस तटस्थ शक्ति का स्थान स्वरूप तथा माया के मध्य में कहा गया है। यह जीव शक्ति है। इस शक्ति द्वारा परमात्मा से जीव अणुओं का निरन्तर निर्गमन होता रहता है। माया रूपी बहिरंग शक्ति स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह का पार्थक्य सम्पादित करती रहती है। माया का प्रत्यक्ष कब होता है ? जब परमात्मा ५६ गुणों के साथ मूर्त होते हैं। इस स्थिति में वे माया तथा जीव के अधिष्ठाता होते हैं। परमात्मा माया को क्षुब्ध करके तथा जीव को देहदान देकर जीव को मायाबद्ध करते हैं और जीव इस बन्धन में बद्ध होकर स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह में लोकलोकान्तर में घूमता रहता है। यही संसारी जीव का लक्षण है। यह परमात्माकृत् क्रीड़ा है। ५६ गुणों से न्यून सत्ता को परमात्मा नही कहा जा सकता। उसे उच्चकोटि का जीव ही कह सकते हैं। वह परमात्मा का अंश है। अब परमात्मा अंशी हैं। जीवात्मा उन्हीं का अंश है। जीवात्मा में ५६ गुणों से अधिक प्रकाशित नहीं हो सकते। ५६ गुणों से अधिक गुणों का प्रकाश होते ही जीवभाव कट जाता है। क्रमशः गुण की न्यूनता होने से जीवसत्ता भी तदनुरूप निम्नस्तरीय जीव सत्ता होती जाती है। निम्नस्तरीय जीव में भी कम से कम एक गुण की स्थिति आवश्यक है। गुणशून्य जीव हो ही नहीं सकता। इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकार गुणाधिक्य होने से जीव में शक्ति का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। इस प्रकार ३५ गुण पर्यन्त ज्ञान तथा शक्ति का विकास होता जाता है। ५५ गुणों से ५६ वे गुण तक उत्तीर्ण होने के लिये गुरुकृपा अथवा भगवत् कृपा की आवश्यकता है। ५६ गुणयुक्त जीव को उच्चस्तरीय जीव अथवा दैवी सत्तायुक्त कहते हैं। ५६ गुण पर्यन्त उत्तीर्ण जीव माया से अभिभूत नहीं होता।

क्या भगवत् कृपा अथवा गुरु कृपा बिना ही जीव ५५ से ५६ गुणपर्यंन्त उत्तीण हो सकता है ? यह प्रश्न उत्थित होना स्वाभाविक है। मात्र ज्ञान द्वारा यह अतिक्रमण सम्भव है परन्तु इस स्थिति में जीव को निर्निमेष दृष्टि की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से वैचित्र्य का दर्शन नहीं किया जा सकता। यह दृष्टि अखण्ड एवं अविभक्त सत्ता का ही दर्शन प्राप्त कर सकती है। इसे ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं। इस ज्ञान को अभेद ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जीव के साथ ब्रह्म के अभेदत्त्व का ज्ञान। यही ब्रह्मविद्या है। इस ज्ञान से क्या दर्शन होता है ? अपने साथ ब्रह्म के अभेदत्व का दर्शन होता है। वह स्वयं को स्वयं देखता है। यदि यह ज्ञान, विज्ञान में परिणत हो सके, उस स्थिति में भक्ति भाव का उदय होना अवश्यम्भावी है। इ अवस्था को "ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा" कहते हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि विज्ञान ही विशिष्ट ज्ञान है। विशिष्ट ज्ञान भक्तियुक्त ज्ञान है। अर्थात् ज्ञान का रूपान्तरण भक्ति के रूप में होना। अब ब्रह्मज्ञान के स्थान पर परब्रह्म ज्ञान का उदय होता है। यद्यपि ब्रह्मज्ञानी निर्निमेष दृष्टि द्वारा यह अभिज्ञता प्राप्त करता है कि ब्रह्म एवं जीव अभिन्न है, तथापि भाग्यक्रम से अपाङ्ग वीक्षणवत् विचित्र दृष्टि की प्राप्ति (गुरु कृपा से) होने पर अखण्ड सामान्य ब्रह्म में अनन्त का दर्शन प्राप्त होता है। यह भक्तिगत् दर्शन है। यह सालोक्य दर्शन ही सामीप्य में परिवर्तित होता है। तदनन्तर सायुज्य आदि अवस्था की प्राप्ति होती है। सालोक्य, सारुप्य, सार्ष्टि, तदनन्तर सामीप्य तत्पश्चात् सायुज्य। इस क्रमोन्नति में पारमेश्वर ऐश्वर्य की भी प्राप्ति होती है। भक्त इस ऐश्वर्य को ग्रहण न करके दासवत् सेवा में लीन रह जाता है। भक्ति भी दो प्रकार की होती है। प्रथम है सेवारूपा तथा द्वितीय है प्रेमारूपा। सेवारूपा भक्ति प्रथम साधन से प्राप्त होती है। इसका फल है प्रेमारूपा भक्ति। इस क्रम विकास में यह परिलक्षित हुआ है कि प्रथमतः परमात्मा पर्यन्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है और वह ज्ञान के फल से ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है। इतने पर भी वह परमात्मा के वैशिष्ट्य को अंगीभूत नहीं कर सकता। अतः उसे सेवा द्वारा परमात्मा की उपासना करते-करते सारुप्य आदि स्थिति की प्राप्ति करना ही चाहिये। इससे भक्ति की प्राप्ति होती है। भक्ति द्वारा भगवद्धाम में प्रवेश मिलता है। अब भक्ति ही अनुष्ठेय होती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। भगवान की स्वरूपशक्ति की संवितरूपी चित्शक्ति तथा आनन्दरूपा ह्लादिनी शक्ति, इन्हें मिलाकर उसके सारांश का अवलम्बन करना। यही है यथार्थ भक्ति। यह भक्तिरूपी वस्तु कहां है ? "भगवद्धाम" में यह भक्ति वैधी भक्तिरूप में विराजमान है और "स्वयं भगवद्धाम" में यह भक्ति मुख्य प्रेम भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। वैधी भक्ति का स्थान वहीं है, जहां भगवान को परमेश्वर रूप से उपलब्ध किया जा सकता है। इसमें भगवान के प्रति प्रेम होते हुये भी एक दूरी (distance) का भाव विद्यमान रह जाता है। यहां दास्य भाव का प्रकाश होता है। भगवान के साथ स्वामी तथा दास के रूप में व्यवहार चलता रहता है। दास जैसे स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार वह भगवान की आज्ञा का पालन करने में लीन रहता है। इस प्रकार करने-करते भक्त के आस्वादन का विकास होने लगता है। इस भक्ति के विकासार्थ गुरूजनों की आज्ञा का पालन करते रहना चाहिये। यही वैधी भक्ति है।

रागमय भक्ति का रूप अन्य प्रकार का है: वह है शुद्ध प्रेमरूपा। भक्त भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम करता है। इस प्रेम की पृष्ठभूमि में शास्त्र, वेद. वेदान्त आदि का कोई अस्तित्व नहीं रहता। भगवान ने गीता में कहा है "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति"। प्राणों की सरल भक्ति से जो भी दिया जाये, उसे भगवान ग्रहण करते हैं। यह है रागमयी भक्ति। इसमें कोई विधि-निषेधादि नहीं है। भक्त को जो अच्छा लगता है, वही भगवान का अभीष्ट है। इसी भक्ति को लक्ष्य करके "God is love" "प्रेम ही ईश्वर" की उक्ति यथार्थ प्रतीत होती है। रागानुगा भक्ति में भगवान की इच्छा प्रधान नहीं रहती। इसमें भक्त की इच्छा प्रधान रहती है। भक्त की इच्छा को भगवान स्वीकार करते हैं। भक्ति के दृष्टिकोण से अनन्तरूप भगवान के दो रूपों का प्रत्यक्ष होता है। प्रथम रूप है स्वयं भगवान, जो माधुर्यप्रधान हैं, जिनमें पूर्ण ऐश्वर्य है। इन सब को ढककर माधुर्य के ही अन्तर्गत रखते हैं, जैसे भगवान ने शिशुरूप धारण किया है। शिशु चंचलता तथा शैतानी करता ही है। मां शिशु की चंचलता तथा क्रीडा को देख कर शासन के दृष्टिकोण से उसे मारने दौड़ती है। शिशु स्वभावतः प्रताड़ना से बचने के लिये भागता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। शिशु बन कर शिशु के समान व्यवहार करना होगा, अन्यथा लीला निष्प्रयोज्य हो जायेगी। अन्यथा शिशु बनने क्या क्या प्रयोजन ? वे तो भगवान हैं, पूर्णरूप में प्रतिष्ठित हैं। जब उन्होंने शिशु बनकर तद्वत् लीला करना स्वीकार किया है, तब उन्हें शिशु के समान ही व्यवहार करना होगा। वहां ऐश्वरीय शक्ति का प्रदर्शन करने से रसभंग दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतएव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माधुर्य भक्ति में भी वैधी भक्ति अनुष्वंग है। कारण, जहां भगवान की माधुर्य लीला है, वहां उनका ऐश्वर्य भी विराजित है, तथापि यदि भक्त मात्र माधुर्य भाव का उपासक है, तब ऐश्वर्य को आवरित रखना ही होगा। अतः भगवान अपनी ऐश्वर्यसत्ता को गोपित कर देते हैं। भगवान् अत्यन्त महान हैं, तथापि भक्त उनकी भगवत्ता को नहीं देख सकता। देखते ही भक्ति साधना में व्याघात हो जात हैं। जो भक्त उन्हें सखा रूप में देख रहा है, वह उन्हें विश्व जगत् के स्वामी के रूप में देख ही नहीं सकता। भगवान कितने ही बड़े क्यों न हों, रागमयी भक्त रुचि उनके उस महाराजत्व की ओर दृष्टिपात नहीं करती। भक्त रुचि भाव के भीतर स्थित वास्तविक यथार्थ रूप को ही स्वीकार करती है। यही माधुर्यमय भक्त का वैशिष्ट्य है। एतद्विपरीत ऐश्वर्यभाव के उपासक भगवान् को जगन्नियन्ता रूप में, गुरु रूप में, विश्व जगत् के अधिष्ठाता रूप में देखते हैं। इन ऐश्वर्य साधकों में भी माधुर्य भाव का उद्रेक हो सकता है। इसी प्रकार माधुर्य भाव के भक्तों के हृदय में भी ऐश्वर्य भाव का जागरण होना असंभव नहीं है, तथापि लीलापुष्टि के लिये योगमाया इस स्थिति को स्थायी नहीं होने देती। यशोदा को श्रीकृष्ण ने मुख में ब्रह्माण्ड दर्शन कराकर ऐश्वर्य भाव का जागरण कराया। जो यशोदा उन्हें मारने जा रहीं थीं, वही उन्हें प्रणाम करने लगीं। यही रसभंग है। शिशु की दुष्टता के लिये मां उसे ताड़ना देगी ही। क्या शिशु उसे अपना शक्ति वैभव दिखलायेगा ? यहीं योगमाया का कार्य निश्चित रहता है। वे कहती हैं "तुम तो शिशु हो। यह क्या कर रहे हो। शिशु के समान क्रीड़ा करो।" नरलीला की भक्त को अपेक्षा है। ऐश्वर्य की नहीं है। नरलीला को यथावत् चलना होता है, क्यों कि भक्त को उसकी अपेक्षा रही है। धरा पर अवतीर्ण नित्य रूप भगवान नित्य ही हैं। वहां काल नहीं है, अथच लीला दृष्टि से काल है। क्रीड़ा के लिये काल की आवश्यकता है। काल भी लीला परिकर बन जाता है। काल भी नित्य है। जहां जैसी लीला की आवश्यकता होती है, वहां काल भी वैसा ही बन जाता है। भगवान की समस्त लीलाओं में माधुर्यलीला सर्वप्रधान है। यह लीला केवल मात्र भगवद्प्रेम प्रकाशनार्थ होती है। इस प्रेमतत्त्व को समझने के लिये पर्यालोचना करना आवश्यक है। प्रथम है रति। रति का तात्पर्य है भाव। भगवान की ओर उन्मुख होने पर चित्त में जो भाव उठता है, वही प्रेम में परिणत हो जाता है। भाव क्रमशः प्रेमरूप में परिणत होता है। भाव का अर्थ है कृष्ण के प्रति अनुराग। इसके मूल में प्रबल इच्छा है। यह इच्छा है कृष्ण के प्रति प्रणय अथवा उनके दर्शन की तीव्र कामना। उन्हे स्पर्श करने की अकांक्षा, उनके अंग गंध की आकांक्षा, उनकी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आज्ञाओं का पालन करने की इच्छा, इत्यादि। इन इच्छाओं के साथ लीला क्षेत्र की इच्छा का संघर्ष होता है। इच्छा का अर्थ है मनुष्य की अपनी इच्छा। यह साधारण इच्छा है और एक इच्छा है, शुद्ध निर्मल इच्छा। इन दोनों में पार्थक्य है। अपनी इच्छा उतनी प्रबल नहीं होती। भगवान की इच्छा ही प्रबल होती है। भगवान की इच्छा साधारण मनुष्य की इच्छा पर विजयी होगी, यह निर्विवाद है। यह एक आयाम हुआ। द्वितीय आयाम वह है जहाँ भगवद् इच्छा प्रबल नहीं है, साधक की अपनी इच्छा भी प्रबल नहीं है, प्रत्युत् विधि का विधान प्रबल है। इस प्रकार की व्यवस्था दृष्टिगत होती है। लीला में ऐसा नहीं है। लीला में दोनों ओर की इच्छा की आवश्यकता है। एक इच्छा भगवान की ओर से, दूसरी भक्त की ओर से। (ब्रह्म स्वरूप में इच्छा नहीं होती, इच्छा भगवत् स्वरूप में होती है) जब भगवान क्रीड़ा करने को उद्यत होते हैं, तब क्या उनकी अपनी इच्छा नहीं रहेगी? उनकी अपनी इच्छा रहती है। वह इच्छा है कि वे भक्त के साथ क्रीड़ा करेंगे। भक्त की भी एक इच्छा रहती है। वह है भगवान के साथ भाव संसर्ग की। यहां एक और दिशा है, यदि भक्त की इच्छा इस प्रकार की हो कि वह भगवान के साथ प्रेम करेगा, भगवान को चाहना ही उसका आनन्द है, तब वह इच्छा एक जातीय प्रेम के रूप में परिणत हो जाती है। एक और प्रकार की इच्छा है कि "मैं भगवान को चाहूंगा, इसमें मुझे आनन्द हो अथवा न हो, मैं भगवान को इसलिये चाहूंगा कि इससे भले ही मुझे आनन्द न मिले परन्तु इससे भगवान को आनन्द मिलेगा या, नहीं मिलेगा, यह मैं नहीं जानता। भगवान को चाहना ही मेरा एकमात्र कर्त्तव्य है।" गुरुनानक ने तथा शास्त्रों ने भी यही कहा है। मैं भगवान् को चाहता हूं, यही मेरा कर्त्तव्य है। चाहना अर्थात् उनकी सेवा करना। एक और भी भाव है "मैं भगवान को चाहने से अनन्द प्राप्त करूं, यह मेरा भाव नहीं है। मेरी प्रीति भगवान चाहते हैं अथवा नहीं, यह भी विचार मुझे नहीं है। मेरा कर्त्तव्य है उनकी सेवा करना।" अन्य भाव के अनुसार "भगवान मेरी प्रीति से आनन्द प्राप्त करेंगे, यह भी भाव मेरा नहीं है। भगवान से प्रीति करना मेरा कर्त्तव्य है, यह भी मेरा भव नहीं है। किन्तु भगवान मुझे चाहते हैं, मैं यह जानता हूं। मुझे पाकर वे प्रसन्न होंगे। उनकी प्रसन्नता एवं उनके सुख के लिये मैं उनकी ओर उनमुख रहूंगा। यह भले ही मुझे रुचिकर न हो, तथापि मैं उन्मुख रहूंगा। इससे मेरा अमंगल हो तब भी मैं विमुख नहीं हो सकता। उनकी ही इच्छा पूर्ण हो।" "God They will be done" भगवान तेरी इच्छा पूर्ण हो!

"मैं अपने आनन्द के लिये भगवान को चाहता हूं।" इसके लिये उपासना भजन, सेवा—करते करते भक्त को आनन्दोल्लास होता है। ह्य भी तृण समान लगे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु यह स्वार्थपरता है। मैं अपना ही आनन्द देख रहा हूं, यहाँ पर। यह साधारणी रति की भक्ति है। जब भगवान के आनन्द के लिए अथवा कर्त्तव्य पालन के लिये उपसना न करके अपने आनन्दार्थ उपासना की जाती है, यह निम्नस्तर का भगवद्प्रेम है। एक और रति है। मैंने आनन्द प्राप्त किया अथवा नहीं यह मुख्य बात नहीं है। मेरा कर्त्तव्य है भगवान को चाहना, सेवा करना। मैं आनन्द प्राप्त करूं अथवा न प्राप्त करूं, इस ओर मेरा दृष्टिपात है ही नहीं। इसे समंजसा रति कहा गया है। एक प्रकार के भक्त और होते हैं, मुझे आनन्द मिलेगा अथवा नहीं, मैं इसका विचार नहीं करना चाहता, भगवान को चाहने से मुझे स्वर्गादि मिलेगा, इसकी ओर भी मेरा भ्रूक्षेप नहीं है। वे मुझे चाहते हैं। उन्हें तृप्त करने के लिये मैं उन्हें चाहता हूं। अपनी तृप्ति के लिये उन्हें मैं नहीं चाहता। मुझे अपनी तृप्ति का तनिक भी विचार नहीं है। भले ही इस प्रक्रिया में मेरा अमंगल हो, तथापि उनकी तृप्ति होती रहे। इस भावना को समर्था रति कहते हैं। यहां भगवान की इच्छा प्रधान है। समर्था रति ही श्रेष्ठ रति है। साधारणी रति का दृष्टान्त है कुब्जा, समञ्जसा रति का दृष्टान्त है द्वारकापुरी की राजमहिषी, समर्था रति का दृष्टान्त है व्रज की गोपिकाये। समर्था रति महाभाव पर्यन्त उन्नीत कर देती है। महाभाव से उर्ध्व में राधातत्त्व अवस्थित है। साधारणी रति महाभाव पर्यन्त उन्नीत नहीं हो सकती। उसका स्रोत आधे रास्ते में ही शुष्क हो जाता है। दिव्य प्रेम भगवान तक को वशीभूत कर देता है। अतः दिव्य प्रेम सर्वोपरि है। उसके समान कुछ भी नहीं है। निजानन्दाकांक्षा जितनी ही समाप्त होती जाती है, भगवद्स्वरूप उतना ही सन्निकट होता जाता है। मैं संसार की कामना नहीं करता, इस विराट् ईश्वरत्व की कामना मुझे नहीं है। 'मैं कुछ नहीं चाहता तथापि भगवत् आनन्द मुझे चाहिये। मुझे समस्त दुःख हो, उससे भी मेरी क्षति नहीं है।" इस मनोवृत्ति के अभाव में महाभाव का आधार भक्त के हृदय में निर्मित नहीं होता। राधातत्त्व अत्यन्त सहज तत्त्व नहीं है। निजभाव लेशमात्र भी विद्यमान रहने से, कृष्ण को पाना दुष्कर है। आधार निर्मल नहीं है, अतः कृष्ण भी अत्यन्त दूर है। समर्था रतिभाव का उन्मेष होने के उपरान्त महाभाव में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। महाभाव में प्रवेश के उपरान्त भगवान की नित्यलीला में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो सकेगा। समञ्जसा रति के साधक भी रासलीला में प्रवेश नहीं कर सकते। निजानंद तथा निजैश्वर्य भाव युक्त रहने से रासलीला उद्घाटित नहीं होती। निजानन्द, निजपुण्यबल, ऐहिक एवं पारत्रिक, सब का बलिदान कर देने पर तथा उनकी इच्छा का एकान्तिक अनुसरण करने पर ही उस प्रेम का उदय होता है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिसके द्वारा प्रकृत भाव की प्राप्ति होती है। यही शुद्ध भाव समर्था रति है। इसकी परिपक्वता के साथ-साथ महाभाव की प्राप्ति होने लगती है।

इस समर्था रति का उद्घाटन कब होता है ? यह वृन्दावन में गोपीजन के मध्य किसी समय उद्घाटित हो चुकी है। नित्यधाम में यह रति सदैव विद्यमान है। नित्यधाम स्थित समर्था रति का ही परावर्त्तन इस धराधाम पर हुआ है। धरा पर द्वापरान्त में यह प्रकाशित हुई है। कृष्ण को प्राप्त करने के लिये उन्हें तत्त्वरूप में तथा भावरूप में पाना होगा। भाव द्वारा कृष्ण को सामान्यतः सामञ्जसा रति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कृष्ण का जो परमस्वरूप है, उसे जिस किसी विधि से नहीं पाया जा सकता। जहाँ अपना अहंभाव पूर्णरूप से विगलित नहीं हुआ है, तत्क्षण पर्यन्त "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो" यह भाव उदित नहीं होता। यह वृन्दावन एक क्षेत्र है, यहां प्रेम की लीला ऐतिहासिक रूप से हो चुकी है। नित्यरूप में, हृदय में, यह निरन्तर हो रही है। वृन्दावन क्षेत्र तत्व को और स्पष्ट किया जाता है। प्रेम का शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य इत्यादि भाग महाप्रभु चैतन्यदेव ने किया है। इसमें जो शान्त प्रेम है, उसका प्रकाश वृन्दावन में होता है। शान्त प्रेम में तरंग नहीं है। भावयुक्त प्रेम से ही लीला में अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रेम में कल्लोल तथा तरंग है। इसे महाप्रभु ने चतुर्धा विभक्त किया है—सख्य, दास्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। दास्य भाव प्रथम भाव है जिसने लीला में प्रवेश प्राप्त होता है। चैतन्यचरितामृत में कृष्ण के नित्यदास का वर्णन है। उसकी यही सार्थकता है। वैकुण्ठ में सनकादि चार ऋषियों का प्रेम शान्त प्रेम है। वृन्दावनतत्व को आयत्त करने के लिए उक्त चतुर्धा विभक्त भावों की विवेचना आवश्यक है। प्रथम है दास्यभाव। दास्यभाव की उपासना करके ही सख्यभाव में उन्नीत होना सम्भव है। दास का धर्म है सेवा। यह सेवा धर्म भी सखा में रहता है। दास अन्तरंग रूप में स्वामी के साथ मिश्रित नहीं हो सकता, परन्तु सख्यभाव में भगवान के साथ अन्तरंग वार्ता चलती रहती है। दास में चाकरी का भाव है, परिणामतः एक प्रकार का दूरत्व रहता है। वात्सल्य भाव में यह दूरत्व भी नहीं रहता। यद्यपि सख्य भाव में दास्यभाव की तुलना में दूरत्व न्यून हो जाता है, तथापि एक प्रकार का दूरत्व रह ही जाता है। यह दूरत्व वात्सल्य में पूर्णतः विलीन होने लगता है। दास्य भाव में भगवान बड़े हैं और भक्त छोटा है। सख्यभाव में भगवान तथा भक्त समान हैं। वात्सल्य में भगवान छोटे हैं और भक्त बड़ा है। प्रभु पिता, माता, गुरु, विश्वस्रष्टा हो सकते हैं, परन्तु इन सब में प्रभु बड़े हैं और भक्त छोटा है। सख्य में दोनों समान हैं।

मधुरभाव सभी भावों की समष्टि है। उसमें सभी भावों के अतिरिक्त भी और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुछ रहता है। यह सर्वात्मक होने पर भी सर्वातीत है। यह भगवान का निजभाव है। इसमें श्रीकृष्ण रति होती है। श्रीकृष्ण तत्व भगवान का आनन्दतत्व है। सच्चिदानन्द का सत् चित् में और चित् आनन्द में विलीन होकर जब मूर्तिमान विग्रह का रूप धारण करता है, तब वह श्रीकृष्ण हैं। उनकी सत् शक्ति हैं सन्धिनी, चित् शक्ति संवित है और आनन्द शक्ति ही ह्लादिनी है। आनन्द श्रीकृष्ण हैं तथा ह्लादिनी राधा हैं। ह्लादिनी शक्ति ही स्वरूपशक्ति है। ह्लादिनी शक्ति में संवित शक्ति तथा सन्धिनी शक्ति अन्तर्लीन है। इसमें अन्तरंग भाव से अनन्त कोटि अन्य शक्तिपुञ्ज भी विद्यमान हैं। ह्लादिनी का सारांश है भक्ति अथवा प्रेम। प्रेम का मूर्तरूप है राधातत्व। उक्त है—

"राधासंङ्गे यदाभाति तदामदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदन मोहितः॥"

अर्थात् जब तक कृष्ण राधा के साथ हैं, तब तक वे मदन मोहन हैं। राधा के बिना वे स्वयं मदन द्वारा मोहित हो जाते हैं। राधायुक्त होने पर ही कामदर्प चूर्ण हो सकता है। कामदर्प चूर्ण करने के लिये स्वरूपशक्ति के साथ युक्तता आवश्यक है। स्वरूपशक्ति के साथ युक्त होने पर कृष्ण के लिये समस्त कामनायें तुच्छ हैं। प्राकृत जगत् में सबसे प्रबलतर है 'काम'। प्रसिद्ध है कि कामदेव ने समस्त देव देवियों का दर्प चूर्ण किया है। शिव ने ज्ञाननेत्र द्वारा कामदेव को भस्म किया था। उसका रूप अरूप हैं। शिव के अनुग्रह से अप्राकृत कामदेव का निर्माण हुआ। वह रूप किसका है? वह रूप कृष्ण का है, तथा अतुलनीय है। इसी कारण कृष्ण का बीज है कामबीज। इस अप्राकृत मदन को ज्ञान द्वारा भस्म नहीं किया जा सकता, यह ज्ञान से अतीत वस्तु है। कारण ज्ञान के परे है आनन्द। पहले सत् तदनन्तर चित् सर्वान्त में आनन्द। आनन्द की घनीभूत मूर्तिरूप प्रकाशित होकर वे विराजित हैं। अतएव आनन्द की घनीभूत मूर्ति होकर प्रकाशित हैं, तब यह प्राकृत काम किसी भी मोहन उपाय कौशल से उन्हें वशीभूत नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि वे अपने उस रूप में स्वरूपशक्ति के साथ क्रीड़ारत हैं। स्वरूप शक्ति की क्रीड़ा कृष्ण में न रहने पर उनका होना अथवा न होना बराबर है। स्वरूप शक्ति का ही नाम है राधा। अतएव 'राधासंगे यदाभाति" जब तक वे राधा के साथ हैं, तब तक मदनमोहन हैं। मदन को भी मोहित कर सकने में समर्थ हैं। जब राधा अन्तर्लीन हैं, उस अवस्था में भी कृष्ण जगत् को मोहित कर सकने में समर्थ हैं, परंतु स्वयं मदन द्वारा विमोहित कर दिये जाते हैं। राधायुक्त रहने पर प्राकृत काम की कोई सत्ता ही नहीं रहती। इसी कारण रासलीला की इतनी अधिक महिमा है। स्वरूपशक्ति का विकास ही रासलीला है। आनन्द की लीला अपनी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शक्ति के साथ ही संचालित होती है। कारण द्वितीय तो कुछ है ही नहीं। सब तो उनकी ही शक्ति है। भिन्न रसास्वादन के प्रयोजन से यह क्रीड़ा होती है। यह रस जगत् में वितरित हो, इसलिये भी यह क्रीड़ा होती है।

क्रीड़ार्थ एक स्थल की आवश्यकता है। यह स्थल ही भगवद्धाम है। सर्वप्रथम स्थल का निर्माण होता है। इसका निर्माण संधिनी तथा संवित शक्ति करती है। यह ब्रह्मादिकृत सृष्टि नहीं है। यह अप्राकृत नूतन सृष्टि कही जाती है। जैसे भगवान की देह सच्चिदानन्दमय है, वैसे ही उनका धाम भी सच्चिदानन्दमय है। उनके समान उनका धाम भी अनन्तात्मक है। जिस धाम में उनका प्रकाशन होता है, उसके सामने कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड की भी कोई सत्ता नहीं है। यह धाम असीम है। इस धाम में अनन्त प्रकार की लीला होती है। ज्ञानी भी इस धाम में नहीं जा सकते। जहाँ ऐश्वर्य का प्रकाश होता है, वह वैकुण्ठ है। ऐश्वर्य से माधुर्य धाम में प्रवेश के लिये ३ स्तर हैं। प्रथम है द्वारिका। यह द्वारका गुजरात में स्थित द्वारका नहीं है। द्वारका के पश्चात् मधुपुरी (मथुरा) स्थित है। तदन्तर गोकुल है। यहाँ माधुर्यभाव मूर्तरूप से विराजित है। इसे श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति का विकास कहा जाता है। इसमें सर्वप्रथम दास्यरस का प्रकाश होता है। यहाँ नित्य दास के रूप में अनन्त सेवक विराजमान हैं। इनकी देह भी नित्य है। इनका कार्य है युगल प्रभु का आज्ञापालन। इस स्तर के पश्चात् अन्तरंग स्तर है, जहाँ पिता, माता, मामा, मौसी, बुआ आदि विद्यमान हैं, जितने प्रकार का रिश्ता सम्बन्ध होता है, उतने प्रकार के श्रीकृष्ण के सम्बन्धीजन यहाँ निवास करते हैं। लीला के आस्वादनार्थ इनकी भी आवश्यकता है। भगवान के पुत्र, भतीजे आदि भी लीला के अनंत सम्पर्कवशात् यहां निवास करते हैं। यह सभी ह्लादिनी शक्ति की रचना है। इसके पश्चात् सखामण्डल है। इसमें श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, मधुमंगल, सुबल आदि असंख्य सखागण निवास करते हैं। यहां नाना प्रकार के सखा हैं। मधुमंगल आदि के साथ श्रीकृष्ण कोई गम्भीर चर्चा नहीं करते केवल परिहास आदि चलता है। सुबल आदि के साथ अति गोपनीय कथावार्ता होती रहती है। सुबल के साथ जिस प्रकार की चर्चा होती है, वैसी चर्चा श्रीदाम के साथ नहीं होती। प्रत्येक के साथ श्रीकृष्ण का भिन्न-भिन्न सम्पर्क है। यह भिन्न-भिन्न संपर्क भी सख्यभाव के अंतर्गत ही है। इसके और भी अन्दर कुञ्जलीला चलती है। यहाँ पर असंख्य कुञ्ज हैं। प्रत्येक सखी का एक-एक कुञ्ज निश्चित किया गया है। नित्यदेह प्राप्त होने पर भावानुरूप एक कुञ्ज की प्राप्ति होती है। मधुमक्खी के मधुचक्र के समान असंख्य कुञ्ज यहाँ पर विराजित हैं, जिनके मध्य में एक निकुञ्ज है। निकुञ्ज मात्र राधाकृष्ण के ही लिये हैं। राधाकृष्ण युगल के अतिरिक्त इस निकुञ्ज में कोई प्रवेश नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर सकता। अन्तरंगतम सखियां भी चारों ओर बाहर रहती हैं। उन्हें भीतर प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। बाहर की ओर ललिता विशाखा आदि सखियों का कुंज अलग-अलग है। केन्द्र में युगल है। इस राधाकृष्ण युगल का सम्बन्ध प्रत्येक कुंज से है। भगवान की लीला बाहर ही होती है। यह लीलाचक्र कहा जाता है। यह लीलाचक्र चमत्कारी है। पृथ्वी में ऐसा स्थान कहीं भी नहीं है। अष्टकालीन लीलाकुंज से लीला प्रारंभ होती है और महारात्रि में समाप्त होती है। लीला की समाप्ति के साथ-साथ समस्त बाह्यकेन्द्र केन्द्रित होकर एकत्रित हो जाते हैं। ये सब राधा के कायव्यूह हैं। जब यह लीला संकुचित होती है, उस समय गोष्ठलीला, मध्याह्नलीला, अपराह्नलीला आदि समस्त लीला शेष हो जाती हैं। सभी लीलाओं की समाप्ति के समय एकमात्र निकुंज लीला चलती रहती है। इस समय कुंज समूह भी अव्यक्त से हो जाते हैं। समस्त सखी की परिणति नर्मसखी के रूप में होती है। नर्मसखियां नर्मप्रिय सखी के रूप में परिणत हो जाती हैं। इस समय निकुंज में मात्र अष्टसखियों की सत्ता अवशिष्ट रहती है। वे ही नर्मप्रिय सखियां हैं। यह अष्टसखी ही अष्टभाव है। अष्टभाव की समष्टि है राधा का महाभाव। सर्वान्त में यही शेष रह जाता है और बाह्य सब कुछ तिरोहित होने पर भी अष्टसखियां अवशिष्ट रह जाती हैं। अब समस्त सखियों की समष्टि राधा में प्रवेश कर जाती है। (समस्त सखियों की समष्टि अर्थात् अष्टसखी)। इस अवस्था में राधा पूर्ण प्रकाशमान होती हैं। अब सखियों की भी सत्ता शेष नहीं रहती। अर्थात् एकमात्र राधा ही शेष रह जाती हैं। इस क्रीड़ा के उपरान्त राधा निकुंज में प्रविष्ट होती हैं। निकुंज प्रवेश के पश्चात् और कौन शेष है वहां ?

सखियों की एक श्रेणी मात्र द्रष्टा है। तदन्तर द्रष्टा भी नहीं रह जाता। द्रष्टा, दृश्य दोनों मिलकर हीं राधा तत्व है। निकुंज के अन्दर राधारूप कृष्णरूप से मिलित हो जाता है। यह मिलन अपने चरमोत्कर्ष की सीमा पर ऐसा हो जाता है कि राधा का स्वरूप सपूर्णतः विलीन हो जाता है और एकमात्र कृष्ण शेष रह जाते हैं। अब कृष्ण भी नहीं रह जाते हैं। जैसे ईन्धन से अग्नि जल रही है। अग्नि ईन्धन को समाप्त कर देती है। जिस ईन्धन से अग्नि जल रही थी, उस ईन्धन को अग्नि आत्मसात् कर लेती है। तदन्तर अग्नि भी नहीं रह जाती। जब ईन्धन ही नहीं है, तब अग्नि का क्या प्रयोजन ? श्रीकृष्ण लीला का प्रकाशन राधा से ही होता है। राधा के प्रविलीन हो जाने के उपरान्त कृष्ण किसके लिये रहेंगे ? राधा क्रमशः कृष्ण में लीन हो जाती हैं। उनके लीन हो जाने पर कृष्ण मात्र क्षण के लिये रहते हैं। तदन्तर कृष्ण कहां ? तब राधाकृष्ण मिलकर एक वस्तु हो जाते हैं। यही मिलित वस्तु है रस। रस ही रह जाता है। "रसो वै सः" अखण्ड ब्रह्मरस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप से उनकी ही सत्ता शेष रहती है। लीलाभूमि से अद्वैत में प्रवेश हो गया। यह चिद्द्वैत नहीं है—अपितु रसाद्वैत है। अद्वैत प्रवेश का अर्थ है कि अद्वैत में प्रवेश हुआ, इस रस द्वारा पुनः निकुञ्ज लीला होगी। जैसे मनुष्य को सुषुप्ति में सब एकाकार भासित होता है, वैसे ही लीलामय वैचित्र्य का पुनः प्रस्फुटन होता है। पुनः शुकसारिका का गुञ्जन कुंज में व्याप्त होता है, पुनः निकुंज लीला चलती है।

यदि लीला का पुनः प्रस्फुटन होना ही था तब इसके विलीनीकरण से क्या प्रयोजन साधित होता है? विरह और मिलन में विरह क्यों? विरह के पश्चात् मिलन और मिलन के पश्चात् पुनः विरह। प्रथम मिलन ये जो आनन्द होता है, वह परवर्ती विरह क्षण में तदनुरूप दुःख में परिवर्तित हो जाता है। इस दुःख भोग के पश्चात् जो मिलन होता है, उसमें प्रथम मिलन की तुलना में गाढ़तर सुख का अनुभव होता है। इस गाढ़तर आनन्द के पश्चात् के विरह में प्रथम विरह की अपेक्षा और गाढ़तर दुःख का अनुभव होना निश्चित है। इससे स्पष्ट होता है कि परमसत्ता में जो आनन्द है वह नित्य नवीन एवं गाढ़तर है। निरन्तर नूतन आस्वादन करना ही लीला है। यही नूतन-नूतन स्वरूपानन्द कहा जाता है। यही लीला वैचित्र्य है। इस प्रकार अनन्तबार मिलन एवं अनन्तबार विरह की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसके कारण तद्जनित मिलनसुख की प्रगाढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

सूफीगण तीन प्रकार की यात्रा का उल्लेख करते हैं। एक यात्रा है ईश्वर से मनुष्य की ओर, द्वितीय यात्रा है मनुष्य से ईश्वर की ओर। तृतीय यात्रा है ईश्वर के अन्दर यात्रा। सृष्टि प्रपंच की यात्रा है ईश्वर से मनुष्य की ओर की यात्रा। जब साधना द्वारा प्राणी वापस लौटता है, तब मनुष्य से ईश्वर की ओर की यात्रा होती है। सर्वान्त में ईश्वर पर्यन्त पहुंच कर प्राणी वापस नहीं आता। वह ईश्वर के अन्दर ही अनन्त यात्रा की ओर उन्मुख हो जाता है। इस प्रकार यह लीलागत् यात्रा ईश्वर के अन्दर की यात्रा है। विरह की अनुभूति भी इसके अन्दर ही होती है। यह भावना बाहर नहीं होती। इस भगवद् विरह की धारणा का सामर्थ्य ब्रह्मा, विष्णु को भी नहीं है। रुप गोस्वामीपाद ने लिखा है कि इस विरह को समस्त देवी देवता भी सहन नहीं कर सकते। इसी के साथ रूपगोस्वामी यह भी कहते हैं कि इस मिलन आनन्द को कोटि-कोटि ब्रह्म एकत्र होकर भी सहन नहीं कर सकते। एक भगवान ही इसका आस्वादन अपने आप में करने में समर्थ हैं। इस एक के अन्दर ही अनन्त आस्वादन चलता रहता है। अब यह सिद्धान्त भली प्रकार स्थिर हो जाता है कि लीलोपयोगी समस्त उपकरण, लीला परिकर, लीलाधाम आदि सब कुछ ह्लादिनी शक्तिरूपिणी राधा से ही निर्गत होता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निर्गत होकर लीला के अवसान काल में (कुन्ज भग्न होने पर) आनन्द में लीन हो जाता हैं। जगत् में जो कुछ है, सब अविद्या जनित ही है। स्वर्ग के देवता पर्यन्त में भी अविद्या की सत्ता व्याप्त रहती है। अविद्या के बिना सृष्टि हो ही नहीं सकती। हम जो कुछ भी करते हैं, वह सब अविद्या जनित है। अविद्या का मूल है ह्लादिनी शक्ति। समस्त सृष्ट दृश्य तथा सृष्ट पदार्थ अविद्या जनित है। वह ह्लादिनी शक्ति रूप अमृत द्वारा विरचित है। अतः वह सब ह्लादिनी शक्ति राधा का आश्रय लेकर ही स्थित रहता है। जब मिलन काल में ह्लादिनी शक्ति बाह्य का संकोच करती है, तब सब कुछ पुंजीभूत एवं घनीभूत होकर उनमें मिल जाता है। तदनन्तर जब वह पुनः बाह्य का विकास करती हैं, तब सब कुछ पूर्ववत् व्याप्त हो जाता है। जब राधा कृष्ण को प्राप्त करती हैं, तब वे स्वयं को ही प्राप्त करती हैं। स्वयं को स्वयं पाने का मार्ग अनन्त है, उसका आस्वादन भी अनन्त कहा जाता है।

भावरूपा रति ही भक्ति का मूल स्वरूप है। साधक का भाव ही प्रेम रूप में पुष्ट होता है। पुष्ट प्रेम है रस ! रस के अनन्तर कुछ भी नहीं है। साधक की तीन अवस्था के सम्बन्ध में शास्त्रों में उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम है-भाव या भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था, द्वितीय है—प्रेम भक्ति की मध्यम अवस्था, तृतीय है—रस, इसे सिद्धावस्था भी कहते हैं। प्रथमतः हमारा स्वरूप मायिक स्वरूप है, पुनः इसी स्वरूप में अमायिक स्वरूप का प्रस्फुटन होता है। यही चित्तस्वरूप है। यह साकार है। भाव के विकास के साथ-साथ हम अपने भावानुरूप निज सत्ता का बोध करने लगते हैं। यही "मैं" है। भक्ति में दो आवश्यक उपादेय तत्व हैं। प्रथम है भक्ति के आश्रय का उद्घाटन अथवा प्रकाश, द्वितीय है आश्रय एवं विषय का पारस्परिक सम्मिलन। भक्ति का आश्रय है भजन। मैं भजन करूंगा, इसका तात्पर्य है कि "मैं" का प्रकाश है। "मैं" का प्रकाश तो है, किन्तु यह माया का प्रकाश है। यह 'मै' देहबोध युक्त है। यह मायिक जगत् में उत्पन्न देहबोध रूप "मैं" है। अतः यह मायीय देह है, इसमें जरा, मृत्यु, रोग, शोक सब कुछ व्याप्त है। इस देह के भीतर एक और देह की सत्ता है। जब तक उस देह में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, तब तक वह देह अभिव्यक्त नहीं होती। उस देह के अभिव्यक्त होने का अर्थ है—भाव का विकास। उदाहरणार्थ आदि में शिशुभाव से मातृभाव की उपासना कर रहा है, उस अवस्था में हमारा शिशुरूपी भावदेह प्रकाशित होगा। इसकी आकृति ४–५, वर्ष के बालक जैसी ही होगी। इस बालक रूप को मैं ही देखूंगा। मैं कौन ? कारण भावदेहावस्था में देहात्मबोध नहीं रहेगा। तब देखेगा कौन ? मैं देखूंगा ! कौन मैं ? निराकार चैतन्य साक्षीस्वरूप ! मैं साक्षी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हूं, यह गुरुदत्त बीज है। जैसे साधना द्वारा गुरुदत्त बीज का विकास होता है, उसी प्रकार साक्षी स्वरूप का विकास होने से सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है। सिद्धावस्था में भाव का विकास सम्यक् रूप से होने लगता है। इस अवस्था में अभावरूप सत्ता का आवरण समाप्त हो जाने से अविद्या का आवरण भी उन्मोचित होने लगता है। इस कारण अब प्रारब्ध कर्म का दग्ध हो जाना स्वाभाविक है। यहीं से यथार्थ भावरूपता प्रारम्भ होती है।

यह भावरूपता प्रकाशसमप्रभ है। इसी भाव प्रकाश को लेकर नूतन भाव जगत् में प्रवेश करना चाहिये। यही द्वितीय जन्म है। यही द्विजावस्था है। मैंने मातृगर्भ से जन्म लिया, वयस की वृद्धि हुई। सांसारिक कार्य सम्पन्न किया और वृद्ध हो गया, यह प्रकृतिगत जन्म की अवस्था है। इसी प्रकार एक अप्राकृत् जन्म भी है। इसी के लिये गुरुप्रदत्त दीक्षा की आवश्यकता है। इसी अप्राकृत् जन्म के लिये महापुरुष संश्रयत्व का उपदेश शास्त्रों में वर्णित है। अप्राकृत जन्म में भी देह की सत्ता अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहती है। यह अप्राकृत देह भी भक्त का ही होता है। भक्त के प्राकृत देह के साथ ही उसका अप्राकृत देह भी जाग्रत हो सकता है। अप्राकृत देह पंचभूत समूह द्वारा निर्मित नहीं है। इस देह में रोग, शोकादि का उदय हो ही नहीं सकता। मैं प्राकृत् जगत् स्थित अपनी देह से प्राकृत जगत का ही अनुभव कर सकता हूं। जब मेरा अहंभाव अप्राकृत देह में निविष्ट होगा, तब मैं अपने प्राकृत देह का अनुभव नहीं कर सकूंगा। ध्यानस्थ मनुष्य बाह्य जगत् का दृश्य नहीं देख सकता, उसी प्रकार प्राकृत देह से अलग होने पर वह देह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इतने पर भी मैं इस समय दृष्टिविहीन नहीं हूं। इस समय जो दृष्टि है वह चक्षुगत् दृष्टि न होकर साक्षी द्रष्टा की दृष्टि है। अब मैं चित्भाव में रमण कर रहा हुं। मैं निराकार भी हूं और साकार भी हूं। निराकारस्वरूपता ही मेरी आत्मसत्ता है। आत्मसत्ता की द्रष्टास्वरूप स्थिति रहने के कारण, वह कभी सुषुप्त नहीं होता। वह यह देखता है कि मेरे ही भावों का प्रकाशन हुआ, मैं भाव देह में स्थित हूं। उसका प्राकृत देहाभिमान अब अप्राकृत भाव देह में प्रविष्ट हो जाता है। तब वह भावदेह में ही आमित्व का अनुभव करता है।

दृष्टान्त प्रस्तुत है। मानो हमारे अन्दर भगवान की सखी का भाव विद्यमान है। भावदेह में अभिमान होने पर वह सखीभाव भावदेहाश्रित होकर ही विद्यमान रहेगा। इसी प्रकार शिशु भाव का उन्मेष होने के उपरान्त गुरूकृपा से शिशु भागवत् भावदेह की प्राप्ति होती है। इस समय मेरे आमित्व का आरोपण इसी शिशु भावदेह में हो जाता है और मैं स्पष्ट देखता हूं कि मैं एक शिशु होकर छटपटा रहा हूं। मां-मां पुकारते हुये रुदन कर रहा हूं। शिशु जब असहाय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यावस्था में अकेले पड़ा-पड़ा आश्रय के लिये रोता है, तब वह अपने आश्रय "मां" रुप के सिवा न तो अन्य की कामना करता है और न अन्य किसी को पहचानता ही है। उसका तो जगत् से परिचय ही नहीं हुआ हैं। अतः उसकी पुकार मात्र मां के लिये है। शिशु की प्राणभरी अभावपूर्ण पुकार को निराश्रय असहाय शिशु की भाव साधना ही कहा जा सकता है। वह क्या जाने कि मां के अतिरिक्त भी और कोई हैं। छोटा शिशु केवल मात्र यही जानता है कि मां के सिवा अन्य का अस्तित्व है ही नहीं। यही वास्तविक साधना का स्वरुप है। कितनी भी साधना की जाये, योगाभ्यास, ज्ञानचर्चा, अखण्ड समाधि अभ्यास आदि किया जाये, उसका मूल्य एक पैसा भी नहीं है। उनके लिये रोना नहीं आया। उनके अपने नहीं हो सके, तब आत्मरूप का प्रकाश कैसे होगा? उन्हें अपना बनाने के लिये प्राण भरे रुदन की आवश्यकता है। जो उनके लिये रोयेगा, उसी के पास उनका आगमन होगा। यही यथार्थ भावसाधना है। दीर्घकालीन बाह्यसाधना कृत्रिमता पूर्ण हैं, Hypocritical है, तथापि बाह्यसाधना की भी आवश्यकता है। अभ्यास से कुछ न कुछ तो प्राप्त होता ही है!

भावसाधना द्वारा भगवत्धाम प्रकाशित हो उठता है। प्रथमतः धाम का अर्थ है एक रूप। जब हमारा "मैं" "आमित्व" प्रकाशित होता है, तब उसके लिये एक आधार चाहिये। वह आधार है रूप, परन्तु भाव देह में धाम का प्रकाशन वातावरण के साथ होता है। अर्थात् सुन्दर बाग, सुन्दर गृह प्रासाद, सुन्दर नदी, सुन्दर पर्वत, सुन्दर दृश्य समन्वित। यहां यह ज्ञातव्य है कि शिशुभावसाधना का शिशु इन दृश्यों से मोहित नहीं होता। वह मां के अभाव का अनुभव करता रहता है—"मां कहां है?। मैं मां को नहीं खोज पा रहा हूं, इस सब दृश्य का क्या करूंगा? मुझे मात्र मां चाहिये"। यही उक्ति उपनिषद् में भी अंकित है "येनाहं नामता स्याम किमहं तेन कुर्याम्"। यह ऐश्वर्य धाम चमत्कारी दृश्य समन्वित रहता है। देखते ही कोई भी मुग्ध हो जाये। इसका चमत्कार वैकुण्ठ से भी सुन्दर है, तथापि शिशु के लिये यह सब व्यर्थ है। कारण वह मातृहीन जो है। मातृहीन को कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मातृहीन शिशु मां की प्राप्ति तक रुदन करता ही रहेगा। भाव साधक का यह रुदन भावसाधना के अन्ततक नहीं रुक सकता। इसी कारण भक्ति का मूल है आश्रय। शिशु की पुकार ही उसकी भावसाधना है। पुनः-पुनः पुकारने से क्या होता है? इससे भाव परिपक्व होता है। परिपक्वता से क्या लाभ है? लाभ यह है जबतक प्राप्ति न हो तब तक पुकार-पुकार कर भावास्वादन करना। इस भाव का आस्वादन कौन करता है? शिशु के भाव का आस्वादन मां करेगी। शिशु के लिये मां के अतिरिक्त, अन्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किसी का आश्रय है ही नहीं। (यदि मैं सखा भाव की साधना करता हूं, तब मो मुझे ऐसा ही भाव रखना होगा।) शिशु के रुदन की पीड़ा भी मां के अतिरिक्त कौन समझेगा? किन्तु मां का प्राकट्य नहीं हो रहा है। प्राकट्य क्यों नहीं हो रहा है? भाव अभी तक परिस्फुट नहीं है अतः अभी और रोने की आवश्यकता है। फल जब प्रस्फुटित होतां है तभी उसमें गंध का आविर्भाव हो सकता है। कली में गन्ध नहीं होती। रहती है, परन्तु अव्यक्त। इसी प्रकार रुदन भाव में प्रेम है, किन्तु वह प्रेम प्रस्फुटित नही है। प्रस्फुटन के अभाव में गन्ध नहीं और गन्ध के अभाव में आस्वादन नहीं हो सकेगा। इसी कारण भाव का पुनः-पुनः आवर्त्तन करना पड़ता है। आवर्त्तन से भाव में परिपक्वता आने लगती है। परिपक्वता के साथ ही मां का स्वरुप प्रकाशित हो उठता है। भाव साधना पूर्ण होने पर जगन्माता का आविर्भाव हो जाता है। भाव शिशु यह नहीं जानता कि मेरी मां ही जगन्माता है, वह उनकी उपलब्धि निज मां के रूप में ही करता है। वह यह भी नहीं जानता कि उसकी मां की अन्य सन्तान भी है। प्रत्येक की मां होती है, सभी मां वर्ग के मूल में जो जगन्माता हैं वे ही सबकी मां हैं, यह तो ज्ञान की बात है। शिशु तो अभी तक ज्ञानी नहीं हो सका है, अतएव उसे इस सब से क्या सम्बन्धो वह मात्र मां को चाहता है। वह अन्य कोई विचार नहीं करता।

मां की प्राप्ति के पश्चात् यह भाव प्रेमरूप में परिणत होने लगता है। एक दिन में भी परिणत हो सकता है, एक घण्टे में भी अथवा एक क्षण में। यह त? अभावबोध की तीव्रता के तारतम्य से होता है। योगशास्त्र का कथन है कि संवेग तीव्र होने से सिद्धि भी शीघ्र होती है। सवेग तीव्र होने पर १० वर्ष का भाव कार्य १० क्षण में हो जाता है। अभाववोध की तीव्रता से विरह में भी तीव्रता आती है। पूर्ण संवेग प्राप्त भाव ही प्रेम है। मां की प्राप्ति के साथ भाव साधना समाप्त हो जाती है। इस भावराज्य में भावास्वादन करने वाले भावुक ही वास कर सकते हैं। भावराज्य में सब कुछ का निर्माण भाव से होता है। वहां पंचमहाभूत से निर्मित कुछ भी नहीं है। वहां सब कुछ भाव से निर्मित है। इसकी धारणा करना अत्यन्त कठिन है। जैसे सिनेमा में हम अग्नि, जल, पर्वत, आकाश, मनुष्य आदि सभी देखते हैं, तथापि सबके मूल में प्रकाश ही विद्यमान रहता है, अर्थात् समस्त दृश्य प्रकाश से ही निर्मित होता है। प्रकाश के अतिरिक्त सिनेमा में कुछ नहीं है, इसी प्रकार भावराज्य में सब कुछ भाव निर्मित है। इसका रहस्य भक्त ही समझ सकते हैं। ज्ञानी के लिये यह स्थिति अगम्य है। मां के प्राकट्य की कथा ऊपर कही जा चुकी है। मां प्रकट होकर क्या करती हैं? वे चिरविरही शिशु को अपनी गोद में ले लेती हैं। गोद में लेते ही चिरविरह जनित ग्लानि,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पीड़ा सब कुछ समाप्त हो जाती है। आनन्द का उद्रेक होने लगता है। मां की प्राप्ति के पश्चात् अन्य की आकांक्षा ही नहीं होती। मां को पाने के साथ ही पर्व शेष हो जाता है। परन्तु पर्व्व शेष कहां होता है? इसी के पश्चात् प्रेम साधना प्रारम्भ होती है। माँ की प्राप्ति भाव साधना से ही हुई है। प्राप्ति के अनन्तर प्रेम में परिपक्वता का सचार होता है। प्रेम की गाढ़ता के साथ-साथ भावरूप गलने लगता है, भक्त भी विगलित होने लगता है और मां के साथ सब कुछ रस रूप में परिणत हो जाता है। पहले जो भक्त शिशुरूप था, जो मां थी अब उनका अस्तित्व नहीं रहता। अब शिशु जीव नहीं है और मां भगवान नहीं हैं। शिशु और मां क्रमशः गल जाते हैं। वैसे ही गलते हैं जैसे स्वर्ण की दो मुद्रिकाये अग्नि में गलकर एक हो जाती हैं। इसी प्रकार मां और शिशु मिलकर एक वस्तु बन जाते हैं। यही रस है। इसमें भक्तरूप शिशु तथा इष्ट रूप मां का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। यह अद्वैतावस्था है। इसे ही रसाद्वैत कहते हैं। यह रसावस्था ही सिद्धावस्था है। इस रसावस्था से एक अचिन्त्य रूप का प्रकाशन होता है। इसी रूप को लेकर नित्यलीला में प्रवेश प्राप्त हो सकता है।

यही रूप रसमय तनु है। इस रसमय तनु के अभाव में नित्यलीला में प्रवेश नहीं मिलता। यह भगवान की महाकृपा है कि उन्होंने जगत् प्रपंच में ऐसी लीलाये की हैं, जिससे नित्यलीला का आस्वादन मिलता है। इन लीलाओं को देखकर मनुष्य को रस की आकांक्षा जागृत होती है और वह साधना द्वारा, भाव द्वारा योग्यता का विकास करके नित्य लीला में प्रवेश करता है। साधनाधारा में प्रथमतः अभावानुभूति होती है। अभाव के वर्द्धन के साथ गुरुशक्ति से योग होता है। गुरु शिष्य के हृदयस्थ अविद्या की मात्रा का निर्णय करके तदनुसार बीजमंत्र प्रदान करते हैं। इसके पश्चात् साधना द्वारा क्रमशः अज्ञान दग्ध होने लगता है। इस प्रक्रिया द्वारा अभावमय मलिन सत्ता नष्ट हो जाती है। अब शुद्धसत्ता का प्रकाश प्राप्त होने लगता है। यही स्वभावरूपी भाव का प्रकाश है। भावरूपी साधना से लेकर प्रेमसाधना पूर्ण होने तक द्वितीय स्तर है। प्रेम साधना के भी स्तर हैं। प्रथम स्तर में भक्त अपने शाश्वत रूप में उनके स्वरूप के प्रकाश का अनुभव करता है। तदनन्तर भक्त के इष्ट का शाश्वत रूप में प्रकाश होता है। इन दोनों का मिलन साधित होता है। दोनों की सत्ता मिल जाती है। इसे रस कहते हैं। यह अभेदावस्था है। यहां द्वितीय का ज्ञान शेष नहीं रहता। यहां से जो क्रीड़ा चलती है, वह अद्वैत की क्रीड़ा है। मैं तुम मिलकर खेल रहे हैं। मैं ही सैकड़ों तुम बनकर क्रीड़ा कर रहा हूं। जो तुम हो वही मैं हूं। द्वितीय कुछ है ही नहीं। क्रीड़ा के ही लिये मैं-तुम का भेद है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जितने प्रकार के भक्त होते हैं उतने ही प्रकार की भाव साधना भक्ति जनित है। कोई सख्य भाव से, कोई दास्यादि भाव से भजन करता है, कोई मधुरभाव का भक्त है। ये सभी भाव है, जिनका भक्त वरण करता है। भक्तों में से कोई शान्तभाव होता है जैसे सनक, सनन्दन, सनातन, सनत् कुमार। ये शान्तभाव से ध्यानावस्था में नारायण के परब्रह्मलोक में भजन करते हैं। अन्यभक्त उन्हें अनवरत प्रेमभाव से देखते रहते हैं। इसमें लीला क्रीड़ा नहीं है। लीला में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भाव हैं। माधुर्यभाव लीला का सर्वोन्नत भाव है। दास्य भाव में भी असंख्य प्रकार की दासता है। सख्य भाव में अनेक प्रकार की मैत्री भावना है। इत्यादि। यह सब लीला जनित आस्वादन, विविधता का प्रदर्शन है। महाभाव सर्वभाव की समष्टि को कहते हैं। जहां कहीं भी, जिस किसी भी भाव में स्थित होकर महाभाव की प्राप्ति हो सकती है। कहीं से भी अपना विसर्जन अर्थात् आत्मविसर्जन कर सकने से महाभाव प्रस्फुटन देखा जा सकता है।

सामरस्य

सामरस्य का सामान्य अर्थ है साम्य अथवा समभाव। जिस दृष्टि से दो या बहुभाव भासित होता है, उसी दृष्टि से बहुभाव या दो भासित नहीं भी हो सकता है। एकाधिक सद्वस्तु स्वीकार करने पर उनमें अवस्था भेद तथा वैषम्य और साम्य की सत्ता को भी स्वीकार करना होगा। वैषम्य की मात्रा सम्यक् भी हो सकती है, आंशिक भी हो सकती है। वैषम्य के अभाव में वह अवस्था साम्यपूर्ण कहलाती है। वैषम्य के उदय के साथ ही तरंग का उद्भव होता है। वैषम्य के अभाव से निस्तरंग तथा शान्तभाव की स्थिति विद्यमान रहती है। साम्य तथा वैषम्य, दोनों की स्थिति आवर्तनशील है। साम्य के अनन्तर वैषम्य तथा वैषम्य के पश्चात् साम्य का आवर्त्तन अवश्यंभावी है। यह आवर्त्तन कालचक्र जनित है। इसका कारण यह है कि साम्य में वैषम्य का बीज विद्यमान रहता है। यह बीज यथासमय अंकुरित होता है, फलस्वरूप साम्यावस्था भंग हो जाती है। काम की परिणति से बीज पक्व होता है और उसमें स्थूलता का संचार हो जाने से वैषम्य आविर्भूत हो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उठता है। यही सृष्टि है। इसी प्रकार वैषम्य में भी साम्य बीज निहित है। यह बीज पक्व होकर साम्यावस्था का कारण बनता है। साम्यावस्था ही प्रलय तथा संहार है।

प्रथमदृष्टया दोनों के क्षेत्र में स्थिति का अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, तथापि किंचित् स्थितिरूपी स्थिरता अवश्य है। सृष्टि एवं प्रलय तथा प्रलय एवं सृष्टि के अन्तराल में स्थिति बिन्दु की सत्ता है। जैसे श्वास एवं प्रश्वास की गति के मध्य एक श्वासहीन निस्तब्धता की स्थिति है (जिसे आकाश कहते हैं) जिसे प्राप्त करने के लिये योगीगण आन्तर एवं बाह्य कुमक का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सृष्टि तथा संहार की प्रान्तभूमि में जो स्थिति बिन्दु विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिये साधकगण विभिन्न प्रकार के उपाय का अनुष्ठान करते हैं। इन दोनों बिन्दुओं के मध्य में एक गम्भीर आकर्षणात्मक क्रीड़ा विद्यमान है, जो निरन्तर श्वास एवं प्रश्वास को खींचा करती है। इस आकर्षण के कारण इन दोनों का मिलन नहीं हो सकता। आकर्षण के अनुरूप विकर्षण भी प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है। इस कारण इसका मध्यवर्ती व्यवधान अक्षुण्ण रह जाता है और दोनों का मिलन नहीं होता। उदाहरणार्थ क एवं ख बिन्दुओं में पारस्परिक आकर्षण एवं विकर्षण की क्रीड़ा चलती रहती है। क अन्य बिन्दु ख को अपनी ओर खींचता है, परन्तु दूसरी ओर ख बिन्दु क का विकर्षण कर देता है अतएव क बिन्दु ख बिन्दु को खींचने का प्रयास करने पर भी स्वस्थान में स्थित रहने ये अक्षम हो जाता हैं। इसी प्रकार ख भी क को अपनी ओर खींचता है, तभी क से विकर्षणात्मक प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती हैं। अतः ख भी अपने स्थान से विचलित हो जाता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यही है प्रकृतिराज्यगत गुणों की क्रीड़ा। प्राणीशरीरस्थ अजपा क्रिया में इसका परिचय प्राप्त हो जाता है। मनुष्य जीवन का मुख्य लक्ष्य है, इस आकर्षण-विकर्षण की क्रिया से मुक्त होना।

इनसे मुक्त होने का क्या उपाय है। उपाय है दोनों बिन्दुओं में से एक ही आकर्षणात्मक क्रिया के समय अन्य बिन्दु की विकर्षण क्रिया को स्तब्ध कर देना। दोनों उपाय फलप्रद हो सकते हैं। इन दोनों में पारस्परिक भेद भी है। प्रथम क्रिया में मध्यबिन्दु की प्राप्ति होती है, अतएव अव्यहित भाव से योग संघटित होता है। द्वितीय उपाय में यही क्रिया एक व्यवधान के साथ उदित होती है। प्रथम उपाय में क और ख परस्पर आकृष्ट होकर मध्यस्थान में समता प्राप्त करते हैं। यहीं योग है। इसमें किसी का प्राधान्य नहीं है अतएव यही निरपेक्ष समता है। दोनों आकर्षण तथा विकर्षण की स्थिति समान होना ही निरपेक्ष समता है। पक्षान्तर से यदि क बिन्दु ख बिन्दु का आकर्षण करते समय अथवा ख बिन्दु क बिन्दु का आकर्षण

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करते समय स्वस्थान च्युत नहीं होता, उस अवस्था में भी क और ख का योग साधित हो जाता है। यह द्वितीय उपाय गुणप्रधान भाव रहित न होने के कारण सापेक्ष समता पदवाच्य है। इस उपाय में एक बार क का प्राधान्य होने के कारण क प्राधान्यनिमित्तिक समता तथा दूसरी बार ख का प्राधान्य होने से 'ख' प्राधान्यनिमित्तिक समता की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था का पुनः-पुनः आवर्त्तन होने से दोनों का अर्थात् (क तथा ख दोनों का) प्राधान्य स्थापित हो जाता है और निरपेक्ष साम्य का आविर्भाव होता है। यही सामरस्य है। इस सामरस्य अवस्था को अद्वय अवस्था कहते हैं। दो का, या बहु का भेद नहीं रह जाता। चिदानन्दमयी अद्वैत निष्ठा है। यह चरम अवस्था नहीं है। इसकी भी परावस्था विद्यमान है। इस परावस्था को किसी संज्ञा से अभिहित कर सकना असम्भव है। यह बुद्धि, चिन्तन, ध्यान, भाव आदि से अतीत, अव्यक्त अथच स्वयंप्रकाश स्थित है। यह निर्विकल्प, निरुत्थान, निर्द्वंद्व स्थिति रूप से प्रसिद्ध है।

तत्व का ओर परिष्कार के साथ विवेचन किया जाता है। पूर्णसत्य को किसी भी मानवीय शब्द द्वारा प्रकट कर सकना असम्भव है। इसे स्वातंत्र्यमय अखण्ड प्रकाश के अतिरिक्त और क्या कहा जायेगा ? वह सर्वातीत है, सर्वात्मक भी है। उनमें कुछ भी नहीं है, अथच सब कुछ है। वास्तव में वही सब कुछ है, अथच कुछ भी नहीं है सभी काल में महापुरुषों ने उसके सम्बन्ध में डर-डर कर ही कुछ कहने का प्रयास किया है। इसका वर्णन करते समय वेद भी चकित हो गये प्रतीत होते हैं—"अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिमपि"।

इसे परब्रह्म, परमशिव, पूर्ण प्रभृति शब्द द्वारा लक्षित किया जाता हैं। सर्वत्र वही विद्यमान है। गुप्तरूप से मानव शरीर में भी विद्यमान है। इसे पिण्डस्थ स्थिति में कोई भी नहीं देख सकता। यह पिण्ड के गुण-धर्म आदि से अस्पृष्ट भी है। अनुभूति द्वारा इसका संधान प्राप्त कर सकना कदापि सम्भव नहीं है। इसे महानुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह इदं तथा अहं रूप उभय भाव से रहित है। अतः इन दोनों भाव से रहित होकर ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। महानुभव का अर्थ है इदं एवं अहं भाव से रहित होना। यह तत्व कुल, गोत्र, जाति, वर्णमय होकर भी उससे रहित है। पिण्डवर्त्ती परब्रह्म की वर्णना पिण्ड से अलग होकर नहीं हो सकती। निष्कल एवं सकलरूपी तत्व उसमें हैं। जब वह निष्कल एवं सकल को निज लीला रूप से प्रकट करता है, तभी उसकी इच्छा का उदय होना स्वातंत्र्य का विलास है। इस स्थिति में तत्वातीत तत्व "शक्ति" का प्राकट्य होता है। यही चित्शक्ति है। चित्शक्ति को निरंश परब्रह्म का नित्यअंश कहते हैं, तथापि इसे अंश कहना भी उचित प्रतीत नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता। यह शिवशक्ति स्तर है। यहां निराकार मायाहीन परमतत्व सदा निजरूप से विराजित रहता है। तत्वातीत स्थिति का वर्णन नहीं हो सकता है। उस समय (तत्वातीत स्थिति में) स्वयं को स्वयं देख सकना, पहचान सकना भी संभव नहीं था। तब महाशून्य की सत्ता भी नहीं थी। कोई साथी भी नहीं था। महाइच्छा का भी कोई अस्तित्व नहीं था। तदनन्तर इच्छा का उदय होते ही आत्मा के अन्तःस्थल में चिद्शक्ति का विकास होता है। इस चित्शक्ति से क्रमशः पांचशुद्धतत्व, अष्टतनु का उदय होने के पश्चात् काल कलित प्रपंच ब्रह्माण्डादि का उद्भव हो सका है। परशिव से चित्शक्ति का आविर्भाव किस प्रकार होता है? योगीगणों का कथन है कि परशिव में स्वतंत्ररूपा निराकारा पराशक्ति की सत्ता निहित है। दोनों के अभिन्न संयोग से चिद्भूमिरूप चित्शक्ति का उदय होता है। चित् शक्ति विश्व जननी है। यह "मैं" बोध की भी जननी है। यह "मैं" ही चिदणु, शिवांश तथा शिवशरण कहा जाता है। "त्वं" है चित्शक्ति "मैं" की जननी। सृष्टि के पूर्व में परमशिव शब्दहीन थे। इस तथ्य को शिव ज्ञानयुक्त शिवशरण स्वज्ञान दृष्टि से नहीं देख सकता तथा स्वयं को ही परशिव समझने लगता है। यहाँ भी शब्द की सत्ता नहीं है। तत्पश्चात् स्वयं की उपलब्धि "शिव" रूप में करने लगता है। यह ज्ञानदृष्टि है और इसे निजानन्दावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में शिव (अंगी) शरण अथवा अंग को देखता है। एतद्-विपरीत शरण (अंश) अंशी रूप शिव को देखता है। मूल ज्ञान दृष्टि से यह दोनों एक ही अवस्था का दृष्टि भेद मात्र है।

इस समय तक शरीर रचना नहीं हुई है। आत्मा अशरीरी है। निर्मल शिवांश में देह बीज नहीं होता। देह का उदय बिना किसी कारण के स्वप्नवत् होने लगता है। यह क्यों होता है? यह होता है विस्मृत्ति के कारण। विस्मृति है शिव तथा तदंशभूत आत्मा को विस्मृत करने के कारण। शिवोहं भाव की विस्मृति के कारण "देहोहं" भाव का वरण होता है। आत्मा की शिवांश-मयता का विस्मरण होना ही देहोत्पत्ति का कारण है। चिद्भाव को बिन्दु कहा जाता है। परमशिव बिन्दु से अतीत हैं। बिन्दु उत्पन्न होते ही ऊर्ध्व एवं अधः में स्पन्दित होता है। चित् तथा ऊर्ध्ववाही बिन्दु के योग से समस्त तत्त्व गर्भस्थ हो जाते हैं। चित् से प्रपंच की उत्पत्ति होती है। सृष्टिकाल में अपने स्वाभाविक पिण्ड तथा स्वाभाविक कार्य को भूल जाने के कारण एक जीव का जन्म होता है। यह जीव मिथ्या पिण्ड में अहं बोध हो जाने के कारण स्व-स्वरूप को भूल जाता है। फलतः मिथ्या पिण्ड में अभिमान आबद्ध हो जाने के कारण वह आनन्द परब्रह्म को खोजने लगता है। यही है खण्डित ज्ञान। उस स्थिति में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परब्रह्म आत्मा में व्याप्त होकर प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्बित परब्रह्म को प्रतिबिम्बभाव ग्रसित कर लेता है। माया की क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। जन्म जन्मान्तर व्यतीत होने के उपरान्त वैराग्य की प्रबलता तथा विवेक की उज्वलता आने लगती है। परिणामतः सद्गुरु की करुणादृष्टि पतित होती है। जो जीव कारणभूमि से सूक्ष्म तथा स्थूल पर्यन्त जड़भावापन्न हो चुका था, वह उद्धार का पथ प्राप्त करता है।

पथ क्या है? जीव आत्मविस्तृत होने पर भी वास्तव में चिद्शक्ति का अंश है। अतएव वह चिद्णु भी है। वह महामायाराज्य में जड़भाव से डूब गया है। उसे पुनः चित्शक्ति प्राप्त करना होगा। एक ओर शिव और शक्ति हैं, दूसरी ओर जीव तथा जीव शक्ति की सत्ता उदित हो रही है। सद्गुरु की कृपा से जीव-शक्ति जागृत होकर भक्तिरूप में परिणत होती है। भक्ति की धारा उर्ध्वमुखी है। इस स्थिति में कुण्डलिनी प्रबुद्ध हो जाती है। वह मध्यपथ का आश्रय लेकर स्वयमेव उर्ध्वमार्ग पर चलने लगती है। वास्तव में ज्ञान एवं भक्ति का यह क्रम-विकास उर्ध्वगामी शक्ति का विकास ही है। यह विकास स्तरानुक्रमारूप होता है। शिव शक्ति का मिलन तथा ज्ञान एवं भक्ति का मिलन उर्ध्वपथ पर चलते समय प्रत्येक स्तर पर होता है, जितना उर्ध्वपथ आयत्त होता है, उतनी मात्रा में शिव एवं आत्मा का व्यवधान कटता जाता है। चरम अवस्था में सामरस्य उन्मिषित होने लगता है। सामरस्य की अवस्था में जीव की भक्तिरूपा शक्ति शिव की चित्शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है। यह भक्ति है, सामरस्या भक्ति। श्रद्धा, निष्टा, अवधान, अनुभव तथा आनन्द के पश्चात् समरस भाव का उन्मेष होता है। अब जीव यद्यपि जीव ही है, तथापि शिव के साथ समान रूप से विद्यमान है। इसे महायोग अथवा सामरस्य कहते हैं। जीव शिव में लीन नहीं हो रहा है। भक्ति भी शक्ति में लीन नहीं हो रही है, अथच अद्वय भाव विद्यमान है। एकाकारिता विकसित हैं। जीव शिव है तथापि वह जीव है। भक्ति ही शक्ति है तथापि वह भक्ति है। इसी का नामान्तर है, सामरस्य। ईसाई धर्ममत में जिस अवस्था को Communion कहते हैं, चमत्कारी लोग जिसे Orison unitive Life आदि नाम से पुकारते हैं, वह सामरस्य का आभास मात्र है। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता, मुक्ति भी नहीं रहती। अवशिष्ट रह जाती है सामरस्य रूपा भक्ति। यही स्वयप्रकाश अद्वय रसतत्व भी हैं। इसमें एक हो सत्ता प्रकाशित है, अतः यह ज्ञान है। इसमे पृथक भाव से भाव का आस्वादन है, अतः यह भक्तिरस भी है। यह अद्वैत भक्ति की स्थिति हैं। महाजनगण कहते हैं—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्त्ता कारयिता कर्म, करणं कार्यमेव च।
सर्वमात्मतयाभाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥

भोक्ता भोजयिता भोगो, भोगोपकरणानि च।
सर्वमात्मतयाभाति, प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥

जीवात्मा परमात्मा च, तयोर्भेदश्च भेदकः।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥

यही सामरस्य की महिमा है।

सामरस्य की मूल कथा का यह सब एक अंश मात्र है। सामरस्य में सब कुछ रहता है अथच एकमात्र तत्त्व ही रहता है। यह लय नहीं है। निर्वाण भी नहीं है। ईसाईगण के Trinity का साक्षात्कार सामरस्य का ही एक रूप है। सेन्ट टेरेसा ने ईश्वर का दर्शन प्राप्त किया था। उन्होंने इसका वर्णन करने का भी प्रयास किया है। तदनन्तर त्रिमूर्ति के तीन व्यक्ति पृथक्-पृथक् प्रकाशित होते हैं। साथ-साथ द्रष्टा आत्मा में बोध का संचार होने लगता है। प्रतीत होता है कि ये तीनों एक अखण्ड सत्ता से सत्तान्वित हैं। इनमें एक शक्ति, एक बोध, एक भगवत्ता स्थित है। यह दर्शन देहस्थित नेत्रों के बिना होना संभव नहीं है। यह दर्शन (सेन्ट टेरसा कृत् दर्शन) तथा सेन्ट पाल प्रभृति द्वारा कृत् दर्शन एक जातीय दर्शन नहीं है। सेन्ट पाल प्रभृति द्वारा प्राप्त दर्शन स्वरूप का क्षणिक दर्शन है। यह ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। परमेश्वर द्वारा यह दर्शनाधिकार किसी-किसी को प्राप्त होता है। यह एक उज्जल आलोक है। परमेश्वर इसे किसी विशिष्ट आत्मा को ही प्रदान करते हैं। यह दर्शन शिवयोगियों के लिंगांग संयोग के समान है, जिसमें अग लिंग के साथ तथा भक्ति चित्शक्ति के साथ सामरस्य में मिलित हो जाती है। (द्रष्टव्य अनुभव-सूत्र)।

सामरस्य की प्रक्रिया आगमों में वर्णित है। सांख्य तथा वेदान्त में भी आत्म-स्वरूप स्थिति का प्रभूत वर्णन प्राप्त होता है। सांख्य के अनुसार सत्वपुरुषान्य-ताख्याति द्वारा अथवा प्रकृति से पुरुष का अन्यताज्ञान सिद्ध होने पर पुरुष चित्-स्वरूप लाभ करता है। वेदान्त में माया से मुक्ति प्राप्ति के साथ साथ ब्रह्मस्वरूप में स्थिति की कथा अंकित है। सामरस्य की साधना का वर्णन आगमों में प्राप्त होता है। आगम मतानुसार शिव अखण्ड अविभक्त प्रकाश है और उसकी आत्म-विश्रान्ति, स्वरूपज्ञान का नाम शक्ति है। कारण, उसकी प्रकाशमानता ही स्वप्रकाशत्व है, जो शक्ति अथवा वाक् के अभाव में सिद्ध नहीं होता। विश्व का वैचित्र्य है ग्राह्य एवं ग्राहकता मूलक। सदाशिवतत्त्व में अहन्ता अत्यन्त

६]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रबल रूप से विराजित है, तथापि इदन्ता का भी किंचित उन्मेषमात्र हो चुका है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं। इसके अधिष्ठाता हैं भगवान सदाशिव। ईश्वर तत्त्व के ग्राह्य विश्व में इदन्ता और भी परिस्फुट रहती है तथा अहन्ता का बल अपेक्षाकृत न्यून हो जाता है। यहाँ अहन्ता तथा इदन्ता का सामान्याधिकरण प्रकाशित होता है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रेश्वर कहते हैं और इनका अधीश्वर "ईश्वर" है। इसके पश्चात् शुद्धविद्या पद से ग्राह्य विश्व भेदप्रधान है। ग्राहक प्रमाता भी भेदप्रधान हो जाता है। यहाँ के प्रमाता को मंत्र कहते हैं। यहाँ के समस्त प्रमाताओं के अधिष्ठाता भेदप्रभाव से तथा मंत्रों के शाखाभेद से असंख्य हैं। ऊर्ध्व जगत् में प्रमाता की संख्या बहुः होने पर भी वर्गीकृत भाव है। अतः बहुः होने पर भी वे एक वर्ग के अन्तर्गत हैं, परन्तु यहाँ वैसा नहीं है। यहां भी माया निष्प्रभावी है। इनके बहिर्देश में एक राज्य है जहां विज्ञानकल जीव (अणु) अवस्थित हैं, यहां भी माया नहीं है। यही कैवल्य स्थिति है। यहां वे आत्मायें स्थित है, जिनका कोई कर्तृत्व नहीं है। वे शुद्ध बोध में आसीन हैं। शुद्धविद्या, ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्व में कर्तृत्व का उन्मेष एवं क्रम-विकास रहता है। शिवतत्त्व में कर्तृत्व की पूर्णता सम्पादित हो जाती है। माया में अवतीर्ण होने के पूर्व कर्तृत्व शून्य होना पड़ता है। उस समय मात्र शुद्धबोध अवस्थित रहता है। सकल एवं प्रलयाकल नामक पूर्ववर्ती अवस्था में जो प्रमेय होते हैं, वे ही यहाँ भी हैं। माया प्रमाता बहुः है, तथापि प्रमेय एकाकार है। इसके नीचे मायाभूमि है। यहां के प्रमातृगण प्रलयकेवली हैं। वे शून्य प्रमाता हैं। उनका प्रमेय भी प्रलीनकल्प है। इसे विदेह तथा विकिरण अवस्था कहते हैं। विज्ञानकल तथा प्रलयाकल जीव देहेन्द्रियादि शून्य होते हैं। इनमें से प्रलयाकल में कर्मवासना रहती है, अतएव अभिनव सृष्टि में ये सब अणु (प्रलयाकल अणु) नवीन देह तथा इन्द्रियों की प्राप्ति करके ससारी रूप में विचरण करते हैं।

विज्ञानकल अणुओं में कर्मवासना नहीं है। उन्होंने विवेक ज्ञान द्वारा इस अवस्था को प्राप्त किया है। विज्ञानकल भी शुद्धाशुद्ध भेद से द्विविध है। निम्नस्तर के केवलीगण प्रकृति से अपने पार्थक्य की उपलब्धि करते हैं। मध्यस्थिति के केवली-गण प्रकृति तथा माया, उभय के पार्थक्य की उपलब्धि करते हैं। उच्चस्तरीय शुद्ध-तत्त्व के केवलीगण महामाया से भी अपने भेद का ज्ञान रखते हैं। अचित्मिश्रता के तारतम्य से यह प्रकारभेद स्थापित होता है। शुद्ध विज्ञानकेवली अचित् से पूर्णतः मुक्त है। शुद्ध विज्ञानकेवली पूर्ण मुक्त होने पर भी परमेश्वर के पथ के पथिकत्व का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। इन्हें परमेश्वर का परम अनुग्रह प्राप्त नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुग्रह के अभाव में पशुत्व की निवृत्ति तथा शिवतत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसे कहीं-कहीं निरञ्जन पशु के नाम से वर्णित किया गया है। क्षुद्र माया से उद्भूत कलादि पृथ्वीपर्यन्त ३० तत्त्वों में जितने भुवन विद्यमान हैं, वे सभी सकल हैं। देहेन्द्रियादि विशिष्ट हैं। ये सभी जीवरूपी प्रमाता परस्पर भिन्न है तथा ये सब परिमित प्रमाता कहलाते हैं। इनका प्रमेय भी तद्रूप है। इन सब वर्णित तत्त्वों की समष्टि ही विश्व है। पृथ्वी से सदाशिव पर्यन्त तत्त्वों को आश्रय करके नाना प्रमाताओं की स्थिति ज्ञात होती है। तदनुरूप प्रमेय वर्ग का भी अनुभव प्राप्त होता है। इन सब की समष्टि का नाम विश्व है। विश्व के उर्ध्व में आत्मा की स्थिति है, अतएव वह विश्वोत्तीर्ण सत्ता है, शैवी स्थिति है। वहां सब कुछ प्रकाशात्मक है। समस्त भाव प्रकाशात्मक हैं। वहां प्रकाश ही प्रकाश है। उस सत्ता में वैचित्र्यात्मक विश्व का संधान नहीं प्राप्त होता। यही शिव का स्वरूप है। शिव तथा परमशिव में एक मौलिक भेद का वर्णन करना आवश्यक है। परमशिव विश्वातीत होने पर भी विश्व से अभिन्न होने के कारण विश्वात्मक भी हैं, परन्तु शिव मात्र विश्वातीत हैं। शिवात्मक प्रकाश को तरल कहा जा सकता है, जबकि परमशिवरूप प्रकाश घनीभूत एवं परमानन्दमय प्रकाश है। घनीभूतता ही आनन्दरूपता है। यही सामरस्यावस्था है। शुद्ध शिवावस्था में प्रकाशमात्र रहता है। शक्ति का विजृम्भण ही विश्व है। शिवप्रकाश विश्वातीत है।

परमशिवावस्था में शक्ति के साथ पूर्णयोग रहता है। इस स्थिति में दोनों समरस तथा साम्यात्मक रहते हैं। यह दोनों भी एकरसावस्था है। इस अवस्था में सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त का विश्व तथा विश्वातीत शिव—दोनों की अखिल सत्ता अभेद भूमि में स्फुरित हो जाती है। अब यह ज्ञात होता है कि एकमात्र परमशिव ही अनंत विचित्र आकार में स्फुरित होते हैं। वे ही शिव हैं, वे ही शक्ति हैं। ऊर्ध्व, अधः, ज्ञान, अज्ञान, अणु तथा महान् रूप से वे ही "अहं" रूप हैं। शिव शक्ति का सामरस्य पूर्ण स्थिति का परिचायक है। इस परम प्रसाद की प्राप्ति के साथ सब कुछ "स्व" हो जाता है। "मधुवाता ऋतायते मधु क्षरंति सिन्धवः" यह मधु ही मधुविद्या का चरमलक्ष्य है। सामरस्य और नित्योदित समाधि एक ही स्थिति का नामान्तर है। समाधि प्राप्ति के अनन्तर तत्काल सामरस्य का उद्रेक नहीं होता। इतने पर भी समाधि से व्युत्थान के पश्चात् के क्षणों में भी समाधि रस का संस्कार अवशिष्ट रह जाता है। इसके प्रभाव से सदैव आनन्द का नशा अनुभूत होता रहता है। इसे आनन्दघूर्णि कहते हैं। प्रतीत होता है कि जगत् की अनन्त भावराशि शरत्कालीन मेघ के समान चिदाकाश में लीन होती जा रही है। व्युत्थानकाल में पुनः-पुनः अन्तर्मुखी भाव जाग्रत होता है। उन्मीलन समाधि क्रम से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निमीलन समाधि क्रम में चिदैक्य बोध का जाग्रत होना अवश्यंभावी हैं। फलस्वरूप व्युत्थान काल में भी समाधिरसमग्नता अनुभूत होती रहती है। यही क्रममुद्रा का अन्तःस्वरूप है। इसके प्रभाव से विषय व्यापृत अवस्था में भी (बहिर्मुख अवस्था में भी) समाविष्ट स्थिति तथा पराशक्ति का स्फुरण साक्षात् रूप से होता रहता है और साधक को परम योगावस्था की प्राप्ति हो जाती है। सर्वप्रथम बाह्यता से, ग्रस्यमान विषय से विमुख होकर परमचिद् भूमि में प्रवेश प्राप्त होता है। तदनन्तर आवेशवशात् अन्तःस्थ परमचिदभूमि से वाह्यस्वरूप इदन्तानिर्भास मे गति हो जाती है। सृष्टि, स्थिति संहारात्मक संवित्चक्र ही क्रम है। तुर्या चितिशक्ति इस क्रम को मुद्रित करती है। स्वाधिष्ठान रूप से आत्मसात् करती है। यह क्रममुद्रा ही पूर्णाहन्ता है। पूर्वोक्त आवेशवशात् वाह्यस्वरूप इदन्तानिर्भास मे गति होने के कारण विषय समूह भी चिद्रस की आश्यानता से प्रथित हो जाते हैं। अब वाह्याभ्यन्तर समान हो जाता है। यही नित्योदित समाधि है। यही सामरस्य भी है। इससे परमानन्दस्वरूप में स्थिति प्राप्त होती है तथा ह्लाददान होता है। इसी स्थिति में पाश द्रावण की भी शक्ति है। इस कारण इसे मुद्रा कहते हैं।

शिवशक्ति के सामरस्य के समान गुरुशिष्य का भी सामरस्य आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्यगुरुस्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है। उसी प्रकार गुरु शिष्यस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। जैसे शिष्य गुरु को आत्मसमर्पण करके गुरु में स्थिति प्राप्त करता है, उसी प्रकार गुरु भी आत्मनिवेदन द्वारा शिष्य को गुरुपद की प्राप्ति कराते हैं। यदि गुरु स्वयं का त्याग न करे, उस अवस्था में शिष्य त्रिकाल में गुरुपद को प्राप्त नहीं कर सकेगें। शिष्य यदि स्व का त्याग न करे, तब गुरु उसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे। शिष्य के हृदय में जिस प्रकार गुरु आसीन हैं, तदवत् गुरु के हृदय में भी शिष्य का वास है। यही सामरस्यावस्था का सोपान कहा गया है।

कामकलाविज्ञान में सामरस्य का तत्त्व और भी परिस्फुट हो जाता है। अग्नि एवं सोम परस्परतया विरुद्ध हैं। अग्नि का कार्य है शोषण संहार। सोम का कार्य है आप्यायन, सृष्टि। अग्नि तथा सोम का संघर्ष स्वभावतः सिद्ध है। अग्नि कालरूपी संहार शक्ति है। यह सोम पर आघात करती है, परिणामतः सोमविन्दु क्षरित होता रहता है। तद्रूप सोम अग्नि पर आघात करता है, फलस्वरूप अग्नि इन्धन प्राप्त कर प्रज्वलित हो उठती है तथा रस का शोषण करने लगती है। अग्नि का संहार कार्य अग्निसाध्य है, तथापि सोम उसका सहयोगी है। सोम में सृष्टि सामंजस्य शक्ति है तथापि अग्नि उसका सहायक है। यही वैषम्य मूलक संघर्ष का इतिवृत्त है। सृष्टि में सोम का प्राधान्य है। सृष्टि में अग्नि गौण है एवं संहार में अग्नि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रधान तथा सोम गौण है। जब अग्नि तथा सोम समान होते हैं, तब दोनों की तुल्य बलता के कारण सृष्टि तथा संहार का व्यापार स्थगित हो जाता है। यह स्थिति की अवस्था है। इसे रवि या सूर्य कहते है। कामकलाविद्या का काम है रवि, कलाये हैं अग्नि तथा सोम। अतः रवि को अग्नि तथा सोम का सामरस्य कहा जाता है। इसके विपरीत स्थिति में अर्थात् वैषम्य की स्थिति में रवि द्वारा सृष्टि तथा संहार की लीला रूपायित की जाती है। इस क्षेत्र में हार्द्धकला का उन्मेष तथा तत्व रचना का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। शास्त्र कहते हैं कि कामकला के श्वेतविन्दु तथा रक्तविन्दु, दोनों में परस्पर विहरणशील शिव-शक्ति का संकोच एवं विकास रूपी कार्य गतिशील रहता है। इन दोनों की क्रीड़ा से चतुर्वाक् तथा ३६ प्रकार के तत्वों की रचना होती है, षड्ध्वरूप जगत् का निर्माण होता है। ये दोनों विन्दु परस्पर अनुप्रविष्ट तथा पृथक्भूत है। इन्हे कामकामेश्वरीरूप दिव्य मिथुन भी कहा जाता है।

अनुत्तर परमेश्वर स्वांगभूत निखिल प्रपञ्च बिलयात्मक विमर्शशक्ति में प्रविष्ठ होकर विन्दुभाव को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर यह विमर्शशक्ति भी स्वान्तर्गत प्रकाशमय विन्दु में प्रविष्ट हो जाती है। इस अवस्था में विन्दु उच्छून हो जाता है। इस विन्दु से नाद उत्थित होता है। इसके गर्भ में समस्त तत्त्व विद्यमान रहते हैं। यह तेजोमय तथा बीजरूपा है। यह केशाग्रवत् सूक्ष्म है। निर्गत होने के पश्चात् यह त्रिकोणाकृति धारण कर लेता है। इस भूमि पर विन्दु प्रकाशस्वरूपता तथा नाद विमर्शरूपता को प्राप्त होता है। इन दोनों का शरीराधार है अहं। इसका रूप द्विविध है। विमर्श है रक्तविन्दुरूप तथा प्रकाश है शुक्लविन्दुरूप। दोनों के मिलन से मिश्ररूप की अभिव्यक्ति होती है। यह है सर्वतेजोमय परमात्मा। यही रवि है, कमनीय होने के कारण काम है तथा अहङ्कारात्मक है। इस विन्दु में अकारवाच्य प्रकाश तथा "ह" कारवाचक विमर्श की सत्ता है। यही है दिव्य पश्यन्ति अथवा दिव्य मिथुन की समरसस्थिति। यह रवि शुक्ल एवं रक्त बिन्दुद्वय का समरसीभूत विन्दु तथा सबकी आत्मा है :—

शुक्लः शिवो रक्तशक्त्यां पराशाम्भववेधतः।
रक्तशांभवरूपेण परातत्त्वेन शक्तितः॥
रक्तः शिवः शुक्लशक्त्यां परशम्भ्वैक्यभावतः।
रक्तः शिवं शुक्लशक्त्यां सच्चिदानन्द लक्षणः॥

योगसाधना के दृष्टिकोण से विवेचना की जा रही है। श्रीगुरुपादुका मन्त्र प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि पूर्णानन्द में (जो किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रचलित हैं) त्रितारवि के पश्चात् दो द्वादशार्ण है। एक उन्मनीभावयुक्त हैं, दूसरा समनीभावमय। प्रथम परम पुरुष (ह) परमा प्रकृति (सः) के साथ परब्रह्म की ओर अभिमुख होकर उर्ध्वगतिशील है। द्वितीय उन्मनीरूपी परब्रह्म की इक्षण शक्ति से आगत परमा प्रकृति (सः) परम पुरुष (उ) की आनन्दधारा में सिक्त होकर आगे-आगे उतरती है। इन्होंने ब्रह्म की उर्ध्व एवं अधः धारा को एक चित्त में मिलाया है, संयोजित किया है। उन्मना तथा समना भाव का उत्स एक ही है। पुरुष तथा प्रकृति अविनाभाव से एक ही ब्रह्मतत्व है। उन्मनाभाव उर्ध्वमुखी त्रिकोण द्वारा संकेतित होता है। समनाभाव अधोमुखी त्रिकोण द्वारा इंगित किया जाता है। ये दोनों त्रिकोण षटकोण रूप से परस्पर जड़ित रूप में सहस्रदल कमल में उपस्थित द्वादशदल कमल में स्थित हैं। द्वादशदल कमल की कर्णिका सहस्रदल कमल की कर्णिका के उपर शिथिल भाव से पड़ी है। द्वादशदल प्रस्फुटित होते ही सहस्रदल निष्प्रभ हो जाता है। उन्मना तथा समना त्रिकोण के मध्य विन्दुद्वय से युक्त तथा अभिन्न हैं। षट्कोण के मध्य में श्रीगुरु का चतुष्कोण आसन है। इन दोनों का त्रिकोण में पूर्णभाव सामरस्य होता है। यही ब्रह्मभाव है।

सामरस्य को दीक्षा का चरम लक्ष्य भी कहते हैं। दीक्षा से पाशक्षय तथा शिव तत्व योजन होता है। इन दोनों के बिना दीक्षा पूर्ण नहीं होती। शिवतत्व लाभ नहीं होता। यह योजनक्रिया अति कठिन है। योजनक्रिया साधारण गुरु द्वारा साध्य नहीं हो सकती। इसमें शिष्य को कुछ भी करना नहीं होता। जो इसे साधित करा सकता है, वही सद्गुरु है। चार प्रमाण प्राण संचार, प्राणरथ षडध्व-विनाश, हंसोच्चार, वर्णकर्तृक कारक त्याग, कालत्याग एवं शून्य भाव इसके क्रमिक स्तर हैं। सर्वान्त में है सामरस्य। सामरस्य तंत्रमत से सप्तविध है यथा (१) आत्मा से सामरस्य (२) मंत्र सामरस्य (३) नाड़ी सामरस्य (४) शक्ति सामरस्य (५) व्यापिनी सामरस्य (६) समना सामरस्य (७) तत्व सामरस्य। समरस भाव के पश्चात् मोह की सत्ता समाप्त हो जाती है। मितयोगीगण व्युत्थान में मोहित हो जाते हैं। इसका यह कारण है कि उन्हें सामरस्य का ज्ञान नही होता सप्तम सामरस्य ही परपरसामरस्य है। उक्त है—

स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्वेन्द्रियेषु च।
स्थावरं जगमं चैव चेतना चेतनास्थितम्॥
अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः॥

सामरस्य की प्राप्ति के अनन्तर किसी भी दशा में शिवभावसमापत्ति बिलुप्त नहीं होती। यही निर्व्युत्थान समाधि है। इस अवस्था में परतत्व

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(ज्ञेयमय भाव) अथवा आशय निष्कल, निराकार तथा पूर्ण हो जाता है। सर्वावस्था में परतत्व से ऐक्य होना ही सामरस्य है। इस स्थिति का वर्णन किया जा रहा है :—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्तत्र चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः॥

सामरस्य में सर्वत्र शिवमय भाव व्याप्त रहता है।

यह सामरस्य गुरुपादुका में सर्वोत्तम रूप से अंकित है। स्वप्रकाश शिवरूप भी गुरुपादुका है। विमर्शरूप में भी गुरुपादुका है। दोनों का सामरस्य है श्रेष्ठ पादुका परशिव ही गुरु हैं। शिव तथा शक्ति उनकी पादुका है। दोनों का सामरस्य है, परापादुका। उक्त है—

स्वप्रकाश शिवमूर्तिरेकिका
तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्य वपुरिष्यते परा
पादुका परशिवात्मनः गुरोः॥

नाथयोग में भी सामरस्य का अंकन है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में समरसकरण की विवेचना प्राप्त होती है। सामरस्य ही परमपद है। इसका उपाय है, अनन्य भाव, चांचल्यविघूनन आदि। परपिंड से स्वपिण्ड पर्यन्त का ज्ञान लाभ करने के पश्चात् परमपद को समरस करना चाहिये। स्वकीय पिण्ड को समरस करने का व्यवस्था सिद्धसिद्धान्तपद्धति में अंकित है। निजविश्रान्ति के अभाव में पिण्ड तथा परमपद का समरसीकरण असंभव है। सद्गुरु वाक्य द्वारा अथवा दृष्टि के द्वारा तत्क्षण चित्त विश्रान्ति प्रदान करते हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्॥

चित्तविश्रान्ति के पश्चात् परमपद का साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। मुहूर्त्तमात्र में साक्षात्कार होता है। इसी के साथ परमपद में अपने पिण्ड का समरसीकरण करना चाहिये। अब आत्यन्तिक निरुत्थान दशा उन्मिषित हो उठती है। परमपद स्वसंवेद्य है। भाषा से इसका वर्णन नहीं हो सकता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

महासिद्ध योगी के स्वस्वरूपानुसंधान की स्थिति

फलस्वरूप — निजावेश

" — निरुत्थान दशा का उदय

" — सच्चिदानन्द चमत्कार

" — अद्भुताकार प्रकाश प्रबोध

" — परमपद का प्रकाश

इस अनुभव से निजपिण्ड सिद्ध होता है। तब निजपिण्ड तथा परमपद एकाकार हो जाता है। इसमें ४ भावों की प्रधानता है।

(१) सहज—विश्वातीत परमेश्वर विश्वरूपेण अवस्थित है अथवा आत्मा में विश्वदर्शन

(२) ससंयम—वृत्तियों को आत्मा में संयत करना

(३) सोपाय—प्रकाशमय आत्मा को स्वयं स्वरूपतः एकीकृत करके लौल्यभाव में स्थिति

(४) साद्वय—अजातिमत्व दर्शन

क्रमशः इन सभी ज्ञानों की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् स्वविश्रान्ति की प्राप्ति होती है। इसे निरुत्थान दशा भी कहते हैं।

जिनकी योग्यता सन्मार्ग प्रदर्शन की है तथा जिन्हें परम्परागत योग्यता प्राप्त है, वे ही प्रकृत गुरु हैं। ये जिस पथ का प्रदर्शन करते हैं, उस पथ पर चलने से स्वसंवेद्य का दर्शन हो जाता है। अतः गुरु को देवभाव युक्त मानना चाहिये। सद्गुरु की करुणार्ददृष्टि से अभिभूत होकर मुनिगण सिद्धिफल का परिहार करके स्वात्मैक्यवेद्यरूप नैरुत्थदशा की प्राप्ति द्वारा कृतार्थ हो जाते हैं और स्वपिण्ड का समरसीकरण करने में सफल होते है।

प्रथमतः निजावेश होता है। उसका फल है निरुत्थान। निरुत्थान का फल है महानन्दावस्था। यह स्थायी महानन्द होता है। महानन्दावस्था का फल है अमलानन्दमय प्रकाश का प्रोद्बोध। इन अनुभव के साथ ही भेद उच्छिन्न हो जाते है। इनके अनन्तर अभिन्न अपार चैतन्यात्मक परमपद का उदय होता है। इसके प्रभाव से निजपिण्ड ज्ञान का भी उन्मेष हो जाता है। निजपिण्ड ज्ञान के पश्चात् नाथयोगी इस परमपद में नियोजित करके ऐक्यरूपी सामरस्य की प्राप्ति करते है। इसके पश्चात् निजरश्मिपरावर्त नामक द्वितीय उन्मेष का उदय होता है। इसका फल है सामरस्य क्रिया। तदनन्तर निजकिरणपुंज का निजरूप में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह सामरस्य ही प्रकृत अद्वय तत्व है। वास्तव में यह द्वैत तथा अद्वैत का ऐक्य है। अवधूत गीता में उक्त है :—

> अद्वैतं केचिदिच्छन्ति, द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
> समं तत्त्वं न विन्दंति, द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

समरसता परमतत्त्व है। यही परब्रह्म भी है। अमनस्क ग्रन्थ में कहा गया है :—

> भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम्।
> सर्वसंकल्पनातीतं परब्रह्मतदुच्यते ॥

यही अमनस्क दशा है। इसका वर्णन ब्रह्मोपनिषद् में भी अंकित है।

बौद्ध तंत्रो में भी समरस भाव की चर्चा को परिलक्षित किया जा सकता है। सहजावस्था में प्रज्ञा तथा उपाय में अभेदत्व रहता है। इस स्थिति में हीन, मध्य उत्तम तथा अन्य सब कुछ समरूप से दृष्ट होते हैं। इस अवस्था में स्थिर तथा चर आदि समरूपमय प्रतीत होने लगता है। यह तत्त्व साधक की दृष्टि का वर्णन है। हेवज्र तन्त्र में इसका उल्लेख है :—

> सम तुल्यमित्युक्तं तस्य चक्रे रसः स्मृतम्।
> समरसं तु एकभावत्वं एतेनार्थेन भण्यते ॥

प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य वज्रयोग कहा जाता है। यह कालचक्र नामक आदिबुद्धतन्त्र का सिद्धान्त है। वज्रयोग चतुर्विध कहा गया है—विशुद्ध, धर्म, काय तथा सत्स्थान योग। प्रथम है सहजकाय, द्वितीय धर्मकाय कहा जाता है। तृतीय को सम्भोगकाय तथा चतुर्थ को निर्माणकाय कहते हैं। विमलप्रभा के अनुसार यह ज्ञानवज्र, चित्तवज्र, वागवज्र तथा कायवज्र अवस्था है।

यह भाव ही अद्वयभाव है।

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शंकराचार्य कृत् दक्षिणामूर्ति स्तोत्र

शंकराचार्य ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में गुरू स्वरूप तथा कृत्य की व्याख्या करते हुये, गुरू के प्रति आत्मनिवेदन का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में विशेष अभिज्ञता प्राप्त करने के लिये गुरु, शिष्य तथा विश्वरूप की विवेचना करना आवश्यक है। साधारण जीव विश्व की आत्मा से पृथक् देखता है। उसकी दृष्टि में विश्व की सत्ता भिन्न है। वास्तव में यह विश्व प्रत्येक जीवात्मा के अन्तर में भासमान होकर बाह्यतः अनुभूत होता है। यह अविद्याजनित दर्शन है। जीव की सत्ता में ही विश्व की सत्ता अवस्थित है। गुरुकृपा से प्रवुद्ध जीव की दृष्टि में विश्व स्वसत्ता से बाहर नहीं रह जाता। जैसे दर्पण में अपने मुख का प्रतिविम्ब परिलक्षित होता है, उसी प्रकार यह विश्व आत्मस्वरूप में स्थित होने पर भी बाह्यतः प्रतीत होता है। यह अज्ञान तथा अविद्या का प्रभाव है। अज्ञान उच्छिन्न होते ही विश्व बाह्यतः प्रतीत नहीं होता। सव कुछ आत्मा में ही प्रकाशित होने लगता है। माया के कारण ही विश्व बाहर परिलक्षित होता है। साक्षी भाव के उदय के पश्चात् ही तथ्य सम्यक् रूप से ज्ञात हो सकेगा। जीव केवल अपने आप इस अवस्था में उपनीत हो सकने में असमर्थ है। वह अनादि सुषुप्ति से आच्छादित है। अनादिकालीन सुषुप्ति का जाड्य हटने पर साक्षीभाव की प्राप्ति होती है। इसे ही जागरण कहते हैं। जागरण की अवस्था में वह अपने आपको आश्चर्यान्वित होकर देखता है। जो इस जागरण की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं वे ही गुरु हैं। गुरुकृत् आत्मजागरण सम्पन्न होने पर यह उपलब्धि होती है कि अद्वैत आत्मस्वरूप विश्वरूप में भासित हो रहा है। जिनकी कृपा से यह विचित्रलीला संघटित होती है, वे ही गुरु हैं तथा वे ही नमस्य हैं।

इस विराट् सृष्टि में अनन्त विचित्रता ओत-प्रोत है। पदार्थगत एवं जीवगत अनन्त भेद विद्यमान प्रतीत होते हैं। यह स्थिति सृष्टि के पूर्व तथा पश्चात् उभय अवस्था मे रहती है। सृष्टि के पूर्व आत्मा अथवा ब्रह्म में सव कुछ विद्यमान था। माया के प्रभाव से आत्मस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) विचित्रजगत् का निर्गमन होने लगा। जो जगत् आत्मा में एकीभूत रूप से विद्यमान था, वह निर्विकल्प रूप माया के प्रभाव से सविकल्प स्थिति में, जगत्रूप मे बाह्यतः प्रकाशित होता है। सृष्टि के पूर्व जो निर्विकल्पतया स्थित था, वह माया के प्रभाव से नानाविकल्प रूप से स्फुरित होता रहता है। माया ही देश और काल का उन्मेष करती है। वस्तुतः अतीत, अनागत एवं वर्त्तमान रूप कुछ भी नहीं है। दूर तथा निकटरूप भी कुछ नहीं हैं। निर्विकल्प

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थिति में देश और काल की क्रिया नहीं होती। कालगत तारतम्य का भी निर्विकल्पावस्था में अत्यन्ताभाव रहता है। जब गुरुकृपा से माया तिरोहित हो जाती है, तब सब कुछ नित्यवर्त्तमान में सन्निहित रूप से प्रकाशित होने लगता है। महाज्ञान प्राप्त पुरुष के लिये देशकाल का व्यवधान समाप्त हो जाता है। श्री गुरुकृपा से माया निवृत्त हो जाती है। प्रकृत् गुरु ही महायोगी होते हैं। प्रकृत् सद्गुरु का कार्याधिकार महायोगी के समान होता है। जैसे महायोगी अपनी इच्छा से समस्त वस्तुसमूह की सृष्टि कर सकते हैं, वैसे ही सद्गुरु भी करने में समर्थ है। ईश्वर भाव की प्राप्ति के साथ ही सद्गुरुभाव की प्राप्ति हो जाती है।

इस सम्बन्ध में वेद और गुरु के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। वेद अनादि, अनन्त नित्य तथा वर्त्तमान हैं। जो वेद से पूर्ण वाक्य का उद्धार करने में समर्थ हैं, वे ही सद्गुरु हैं। पूर्ण गुरुवाक्य है तत्त्वमसि। वेदवाक्य लोक-लोकान्तर तथा ऋषि मुनि से अतीत है। वेद एक पुस्तक मात्र नहीं। अखण्ड ज्ञानराशि ही वेद हैं। साधारणत: वेद सबके लिये बोधगम्य नहीं है। गुरु इसका मन्थन करके जीवोद्धार का पथ प्रदर्शित करते हैं। इसके लिये दक्षिणामूर्ति गुरु को नमस्कार करना चाहिये। गुरु का स्वरूप किस प्रकार का है? अनेक छिद्रयुक्त घट के मध्य में स्थित विराट् प्रदीप के प्रभाव से उज्वल एवं भास्वर प्रकाशरूपी ज्ञान जिसके चक्षु आदि कारणवर्ग का आश्रय लेकर बहिर्गत होकर स्पन्दित होता है, उस स्पन्दन का नाम प्रकाश अथवा ज्ञान है। यह है आदिज्ञानरूपी आदि प्रकाश। इसी प्रकाश से समस्त सृष्टि प्रकाशित होती है। गुरु का दक्षिणामूर्ति रूप ज्ञानात्मक है। ज्ञान आत्मा का स्वभावसिद्ध धर्म है। यह ज्ञान "मैं जानता हूं" रूप से स्पन्दित होने लगता है। ज्ञानरूपी दक्षिणामूर्ति की यही महिमा है।

देह, प्राण, इन्द्रिय तथा बुद्धि प्रभृति शून्यरूप से भासित होने लगते हैं। सभी अन्ध जड़ के समान "मैं" "मैं" कहते फिरते हैं। यह महामाया जनित मोह है। मायाशक्ति के विलास से यह महामोह कल्पित होता है। इसका अपोहन करने में एकमात्र दक्षिणामूर्ति गुरु ही समर्थ है। गुरु निजज्ञान शक्ति द्वारा महामोह का उच्छेद करते हैं। यह महामोह मायाशक्ति की क्रीड़ा से उद्भूत है। एकमात्र गुरु ही इससे त्राण दिलाते हैं। जैसे राहु ग्रसनकाल में सूर्य-चन्द्र को ग्रस लेता है, उसी प्रकार माया जीवको आच्छन्न कर लेती है। पुरुष सत्तामात्र है और वह करणवर्ग के उपसंहार के कारण सुषुप्त सा स्थित हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपनी सुषुप्ति का भान होते ही जाग उठता है। यह चमत्कार गुरुशक्ति के प्रभाव से ही घटित हो सकता है। यह दक्षिणामूर्ति का कृपायुक्त कार्य है।

बाल्य, यौवन और वार्धक्य प्रभृति अवस्थाओं में, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति की पर-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्पर विरोधी स्थिति में जो अभिन्नरूप से अनुवृत्त रहता है, उसे अहंभाव कहते हैं। यह अहंभाव—बालक, वृद्ध, युवक आदि सब में स्फुरित होता रहता है। सभी अवस्थाओं में, जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में भी यह सर्वदा एक प्रकार से स्थित रहता है। श्रीगुरु दक्षिणामूर्ति भक्तों में क्षुब्ध मुद्रा के द्वारा स्वरूप का प्रकाशन करते रहते हैं। ऐसी गुरुमूर्ति नमस्य है, प्रणम्य हैं। देह की विभिन्न अवस्थाओं में, जाग्रत, स्वप्नादि की भिन्नातिभिन्न अवस्थाओं के भेदरूप में, विभिन्न परिस्थितियों में जो अहंरूप अभिन्न प्रकाश को व्यवस्थित रखते हैं, वे गुरुमूर्ति हैं, दक्षिणामूर्ति हैं। उपर्युक्त परस्पर भिन्न अवस्थाओं में भी अहंरूप अभिन्न ज्ञान गुरुकृपा से ही सम्भव होता है। बालक भी अहं अनुभव में रत रहता है। इस अहं के उदय का मूल कारण है गुरुकृपा। यही दक्षिणामूर्ति गुरु का स्वरूप है। इन्हें नमस्कार !

यह विश्व कार्य कारण भाव में परिलक्षित होता है। इसकी कोई वस्तु कार्यरूप अनुभूत होती है। कोई वस्तु कारणरूप से प्रत्यक्ष होती है। इसमें कोई शिष्य है, कोई आचार्य है, कोई पिता है, कोई पुत्र रूप है। स्वप्नावस्था में, जाग्रतावस्था में, सभी अवस्थाओं में जीव माया द्वारा घूर्णित किया जाता रहता है। जो माया द्वारा स्वप्नावस्था में तथा जाग्रतावस्था में घुमाते रहते हैं, वे ही श्रीगुरु दक्षिणामूर्ति हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूं। समग्र विश्व को श्रीगुरु चक्रीय गति में घुमाते रहते हैं। श्रीगुरु दक्षिणामूर्ति ही शिवरूप भी हैं। उनकी अष्टमूर्ति स्थिति सर्वत्र ख्यात है। उनकी अष्टमूर्तियां हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य तथा जीवात्मा। इन अष्टमूर्तियों से शिवरूपी श्रीगुरु शोभित हैं। इस दक्षिणामूर्ति स्तोत से सर्वात्मक भाव परिस्फुट होता है। इस स्तोत्र का श्रवण, मनन, ध्यान एवं कीर्तन करते रहने से ईश्वरत्व का उदय हो जाता है। ईश्वरत्व के साथ समस्तभावमयी महानुभूति जड़ित रहती है। ईश्वरत्वमयी महाविभूति का स्वरूप एक होने पर भी अष्टधा विभाजित है। इसे अष्टसिद्धि कहते हैं। वास्तव में यह अव्याहत ऐश्वर्य का परिचायक है। सर्वात्मक भावोदय हो जाने पर खण्ड विभूतियों का कोई प्रयोजनीय मूल्य नहीं रह जाता। वटवृक्ष के समीप भूमि पर उपविष्ट दक्षिणामूर्ति देवता विराजमान रहते हैं। ये समस्त मुनिजनों के ज्ञानदाता हैं। दक्षिणामूर्ति त्रिभुवन को ज्ञान देने वाले, ईश्वरस्वरूप एवं एकमात्र गुरु हैं। इनकी कृपा से जन्ममृत्यु जनित दुःख-कष्ट नष्ट हो जाता है। ये त्रिभुवन गुरु हैं। इन्हें नमस्कार !

एक आश्चर्य दृश्य परिलक्षित होता है। देखता हूं (श्रीमद् शंकराचार्य देखते हैं) कि वटवृक्ष के मूल में (संसार में) असंख्य वृद्ध शिष्य उपविष्ट हैं। साथ में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उनके गुरु भी हैं। गुरु नित्य युवा प्रतीत हो रहे हैं। शिष्यगण काल के अधीन होने के कारण वृद्ध कहे गये हैं। गुरु कालातीत हैं, अतः उन्हें नित्य यौवन प्राप्त है। यहाँ एक और आश्चर्य है. गुरु शिष्यों को मौनावलम्बन पूर्वक उपदेश दान कर रहे हैं। मौनमुद्रा में कोई भी कथा-वार्त्ता नहीं हो रही है। उस उपदेश की प्राप्ति के साथ-साथ संसार रूपी संशय समाप्त हो जाता है। गुरु की यह मौन व्याख्या है—अहैतुक शक्तिपात। ऐसे दक्षिणामूर्ति गुरु को नमस्कार। दक्षिणामूर्ति प्रणव हैं। ॐकार। ये शुद्धज्ञान देहधारी, मलहीन तथा प्रशान्तरूप हैं। जो सर्वविद्याधार हैं, जो संसार रोग के चिकित्सक हैं, जो सर्वलोकगुरु हैं, उन्हें नमस्कार!

हम जिन दक्षिणामूर्ति गुरु को नमस्कार करते हैं, उनका स्वरूप कैसा है? वे परब्रह्म तत्त्व की व्याख्या शब्दों द्वारा नहीं करते, प्रत्युत् मौन मुद्रा में स्थित होकर शक्तिपात् द्वारा शिष्य को अनुभव कराते हैं। कालजयी होने के कारण वे नित्ययुवक हैं। वे आचार्यो में सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने हाथ से चिन्मय मुद्रा का प्रदर्शन किया है। इस कारण वे आनन्दरूप हैं। स्वात्माराम होने के कारण नित्य मुदित हैं। ऐसे दक्षिणामूर्ति गुरु को प्रणाम करता हूं।

★

मानव जीवन की पूर्णता

समस्त धर्मशास्त्रों में तथा सम्प्रदायों में मानव जीवन को दुर्लभ माना जाता है। कवि चण्डीदास ने लिखा है "सबाई उपर मानुष सत्य तहार उपरे नाई" प्राकृतिक क्रमविकाम के अनुसार ८४ लाख स्थावर एवं जंगम देहों के पश्चात् सर्वान्त में मनुष्य देह की प्राप्ति होती है। इन ८४ लाख देहों में मात्र अन्नमय एवं प्राणमय कोष की ही सत्ता रहती है। यद्यपि मनोमय कोष की स्थिति का पूर्वाभास मनुष्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देह की प्राप्ति के पूर्व ही होता है, तथापि यथार्थ मनोमय कोष का आविर्भाव पशुदेह में संभव नहीं है। मनुष्य देह में ही यथार्थ मनोमय कोष का आविर्भाव होता है। प्राणमय कोष विकास की चरम स्थिति में मन की सत्ता का पूर्वाभास अवश्यमेव प्राप्त होता है। यह यथार्थ मन नहीं है। प्राण की मनोन्मुख अवस्था मात्र है। यथार्थ मन विवेक एवं विचारधर्मी होता है। इस विवेक तथा विचार-शक्ति के प्राथमिक स्तर में प्राण का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। यह मनोमय स्तर का प्रथमिक एवं निम्न रूप है। यह यथार्थ मन न होकर प्राण की मनोन्मुखी स्थिति मात्र है। षट्चक्र संस्थान की स्थिति तथा उसका भेदन एकमात्र मानव शरीर में ही संभव है।

मन की प्राथमिक स्थिति की सत्तावाले मनुष्य देखने में मनुष्य होने पर भी पशु ही हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि मनयुक्त होकर भी वे मन को प्राण के नियंत्रण से मुक्त नहीं कर सकते। वासना, कामना, संस्कार तथा नाना प्रकार की अवचेतन शक्ति का प्रवाह तथा चेतन शक्ति का प्रवाह भी प्राणमय कोष की प्रधानता से घटित होता है। यह सब चित्तशुद्धि के अभाव का द्योतक है। जन्मजन्मान्तर के समस्त संस्कार इस अवचेतन शक्ति के अन्तर्गत ही हैं। इस संस्कार के मूल में साधना कापरम लक्ष्य यहीं डूब जाता है। ऐसी स्थिति आत्मा का पृष्ठदर्शन मात्र है। यह साधना की अनुलोम दक्षिण गति है। सद्गुरु की कृपा से साधक यहाँ न रुक कर वामावर्त्त गति से चलना प्रारभ करता है। विलोमगति को २ संज्ञा प्रदान की गयी है। दक्षिणवर्त्ती गति में जिस ज्ञेयरूपी विश्व का विलयन ज्ञान में हो चुका था, उसका पुनरुत्थान होता है। यह पुनरुत्थान चिन्मय स्वरूप में होता है। (प्रथमतः विश्व अचित्, मायिक तथा जडभाव सम्पन्न था। विलोम गति न होने पर जड़ विश्व की निवृत्ति तथा निराकार आत्मस्वरूप में स्थिति होना अवश्यंभावी था।) गुरुकृपा से पुनः गति प्राप्त होती है। अस्तगत् विश्व का पुनरुत्थान होने लगता है। परिशेष काल में समस्त विश्व के चिन्मय रूप का प्रकाशन होने से विश्वात्मक आत्मस्वरूप का उन्मेष हो जाता है। इसे सम्मुख दर्शन कहते हैं। यह है विश्वात्मक आत्मा का साकार दर्शन। प्रथमतः आत्मा की उपलब्धि निराकार रूप में होती है। उस अवस्था में विश्व भी निराकृति है। आत्मा का नित्य साकार रूप उपलब्ध होता है। यह दोनों स्थिति एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। प्रथम है, अनुलोम गति का फल—आत्मा का पृष्ठरूप। द्वितीय है विलोम गति का फल—आत्मा का सम्मुखस्वरूप। ये दोनों स्वरूप आत्मा के अखण्ड रूप के अन्तर्गत हैं। सरल गति की स्थिति में दक्षिणावर्त्त तथा वामावर्त्त गतियाँ समाप्त हो जाती हैं। गत्यावर्त्तन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के अभाव में ही सरल गति का उदय होता है। इससे केन्द्रस्थ बिन्दु का अखण्ड रूपेण दर्शन प्राप्त होता है। इससे साकार-निराकार, सगुण-निर्गुणादि द्वन्द्व नहीं रहते। इस प्रकार की सरल गति में पूर्ण सत्ता का दर्शन संभव है, परन्तु प्राप्ति नहीं होती। कारण, द्रष्टा-दृश्य, उपासक-उपास्य का व्यवधान शेष रह जाता है। वक्रगति की निवृत्ति के साथ-साथ साक्षात्कार मार्ग की बाधायें समाप्त हो जाती हैं. परन्तु उक्त व्यवधानों का अपसारण नहीं होने के कारण दोनों में योग-स्थापना नहीं होती। पूर्णस्वरूप का अनिमेष भाव से दर्शन करते-करते यह व्यवधान भी कट जाता है। उस स्थिति में पूर्ण आत्मस्वरूप के साथ योग की सूचना मिलती है। उपास्य एवं उपासक के मध्य योगस्थापन होने लगता है। इसके पश्चात् योगक्रिया का गाढ़त्व होने पर उपासक उपास्य में अनुप्रविष्ट होता है तथा उपास्य का आरोहक्रम समाप्त हो जाने के पश्चात् अवरोह तथा अवतरण के पूर्व, समष्टि एवं महासमष्टि के साथ तादात्म्य भाव आवश्यक है। तादात्म्य सिद्ध होने के मूल में प्रेमभाव प्रधान है। इसके पश्चात् अवतरण को यथाविधि पूर्ण करना चाहिये, अर्थात् सर्वोच्च तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त अवतरण का समावेश होना आवश्यक है। इस अवतरण का प्रभाव अत्यन्त विस्तृत होता है। इसकी पूर्णता के साथ-साथ स्वातंत्र्य शक्ति का उन्मेष होता है। उस स्थिति में विश्वकल्याण का पथ उन्मुक्त होने लगता है। स्वातंत्र्य शक्ति का उद्‌बोधन (प्रकाशन) अत्यन्त मंद गति से होता है. यह सत्य है, तथापि वह उचित क्षण आने पर स्वयंमेव प्रस्फुटित हो जाती है। आरोहण के अन्त में, लक्ष्य की स्थिति के समय, सत्स्वरूप स्वरूप में स्थित एवं अन्तर्भुक्त चित् एवं आनन्द की अभिव्यक्ति सम्यक् रूप से होने लगती है। अब इच्छा का एवं ज्ञान का उदय होता है। सर्वान्त में क्रिया का उन्मेष होने पर स्वातंत्र्योन्मेष भी पूर्ण हो जाता है।

इस अवतरण है मूल में आत्मप्राप्ति के साथ-साथ विश्व की भिन्न-भिन्न आत्माओं की भी प्राप्ति हो जाती है। कारण, व्यष्टि का समष्टि के साथ और समष्टि के साथ व्यष्टि का तादात्म्य सम्पन्न हो जाता है। इसका अर्थ है एक की प्राप्ति ही सर्वप्राप्ति है। सर्वप्राप्ति होने पर भी इसका बोध अवतरणकारी मूल आत्मा का ही होता है।

*

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अवतार

विश्वकल्याणार्थ भगवत्सत्ता का अवतरण होता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार विभिन्न प्रश्न उत्थित होते हैं। सब का उत्तर देना संभव नहीं हैं, तथापि कुछ के दृष्टिकोणों की विवेचना की जाती है। गौड़ीय वैष्णवगण के अनुसार परमात्मा का ही अवतार होता है। वे माया के अधिष्ठाता हैं। परमात्मा में चित् शक्ति तथा मायाशक्ति का संबन्ध है। चित्शक्ति में ह्लादिनी भाव का प्राधान्य नहीं है। चित्शक्ति तटस्थ है। उससे निरन्तर जीवाविर्भाव होता रहता है। मायाशक्ति के अधिष्ठाता भी ईश्वर-परमात्मा हैं। उससे निरन्तर प्राकृत जगत् के उपादानों की सृष्टि होती रहती है। इस कारण जीव परमात्मा का ही अंश है। परमात्मा की शक्तियों से जीव का आविर्भाव होता है, अतएव जीव को भिन्नांश कहा गया है। परमात्मा का स्वांशरूप में अवतार होता है। अवतार माया से प्रभावित नहीं होता। परमात्मा का अंशरूप तथा पूर्णरूप अवतार परमात्मा का ही स्वरूप है। यद्यपि साधारणतया पूर्णरूप का अवतार नहीं होता, तथापि विशेष कारणों से हो भी सकता है। अवतार विश्व-कल्याण तथा धर्म संस्थापना का कार्य करते हैं। धर्मसंस्थापन से जीव का तात्कालिक कल्याणमात्र होता है, उससे जीव का स्वरूपगत उत्कर्ष नहीं होता। जीव की अन्तः प्रकृति का उत्कर्ष साधन दण्ड प्राप्ति से भी नहीं होता। जीव की आन्तरिक प्रकृति दण्ड पाने पर भी शुद्ध नहीं होती। यह दण्डप्राप्ति भी सामयिक ही है। यह कर्म जगत् का ही विषय है।

जीव भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जीवन्मुक्त अवस्था में ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे सकता है। ब्रह्मज्ञानी जीव ब्रह्मोपदेश द्वारा जगत् कल्याण करते हैं। जीवन्मुक्त अवस्था में भी अविद्या का पूर्ण विनाश नहीं होता। जाति, आयु तथा भोगरूप प्रारब्ध का फल जीवन्मुक्त को भी भोगना पड़ता है। जीवन्मुक्त की शक्ति सीमित होती है। उसका विश्वकल्याण प्रयास भी इसी प्रकार सीमित ही होता है। समग्र विश्व का कल्याण उसके द्वारा नहीं हो सकता। जीवन्मुक्त का सामर्थ्य भी परिच्छिन्न होता है। नित्यसिद्धमण्डल में विराजमान सिद्धपुरुष भी विश्वकल्याण कर सकते हैं, किन्तु आंशिकरूप से ही उनका प्रयास सफल होता है। इसी कारण ईश्वरीय शक्ति भी व्यापक रूप से विश्वकल्याण नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में जो भी कल्याण साधित होता है— वह उसी देश तथा काल का कल्याण होता है। वह सर्वदेशिक और सर्वकालिक नहीं होता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भक्तिमार्ग द्वारा भाग्यवान उच्चाधिकारीगण प्रेमभक्ति की प्राप्ति करते हैं और भगवान के नित्यधाम में प्रवेश करते हैं, तथापि इससे विश्व का कल्याण नहीं होता। सिद्धमण्डली अपने-अपने अधिकार के अनुसार एवं जगत् स्थिति के अनुसार यथासंभव जगत् की सेवा करती रहती है। समस्त जगत कल्याण का कृत्य उनकी शक्ति से परे है। काल अथवा विश्वमाया की निवृत्ति के अभाव में व्यापक जगत् कल्याण कदापि संभव नहीं है। बौद्धधर्म के प्राचीन मत हीनयान में व्यक्तिगत निर्वाण को ही लक्ष्य माना गया है। व्यापक विश्व कल्याण उनकी सीमा तथा कल्पना से परे था। श्रावक रूपी साधक पुद्गल नैरात्म्य साधना द्वारा निर्वाण की ओर अभिमुख होते थे। श्रावक की तो बात ही क्या, प्रत्येक बुद्धगण मे भी विश्वकल्याण की योग्यता नहीं थी। महायान प्रस्थान में जीवसेवा का उन्नत आदर्श परिलक्षित होता है। ज्ञान का आदर्श भी उन्नत होता दृष्टिगोचर होता है। कारण श्रुतचिन्ता भावनात्मक ज्ञान भूमिप्रविष्ट ज्ञानरूप में परिणत हो जाता है। श्रावक पदार्थ जीवनोत्सर्गीकृत् बोधिसत्त्वरूप में परिगत हो जाता है। यही जीवन का मुख्य उद्देश्य हो जाता है। विश्वहित का आदर्श और भी उन्नत होता प्रतीत होता है। निर्वाण की तुलना में बुद्धत्व के आदर्श को अधिक मान्यता प्रदान की गयी है। यद्यपि बोधिसत्त्व का आदर्श महान् है, तथापि वह पराकाष्ठा पर्यन्त उन्नीत नहीं हो सकता। पारमितामार्ग में ही प्रज्ञालाभ हो सकता है। यह प्रज्ञा विकास के साथ-साथ (क्रमशः) महाबोधि स्थिति में परिणत होती है। अतः बुद्धभगवान का आदर्श है— बोधि एवं भगवत्ता का एकत्रीकरण। केवलमात्र बोध द्वारा भगवत्ता तथा महाशक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता। इसी प्रकार केवल भगवत्ता की प्राप्ति मात्र से बोधि का उदय अनिश्चित सा रहता है। अतः एक साथ बोधि एवं भगवत्ता का मिलन होना चाहिये। यही है ज्ञान एवं ऐश्वर्य का सामजंस्य! शैवागम तथा शाक्तागम में पूर्णत्वप्राप्ति के लिये शिवशक्ति के सामरस्य को आवश्यक माना गया है, यह भी वैसी ही स्थिति है। बोधिसत्त्व दशम भूमि में बुद्धत्व की प्राप्ति कर लेने के पश्चात् जीव सेवा में प्रवृत्त होते हैं। बोधिसत्त्व असंख्य हैं, बुद्ध भी अनन्त हैं। वे अनादि काल से जीवोद्धार के लिये प्रयत्नशील हैं, तथापि विश्वकल्याण कहाँ हो सका?

सर्वमुक्ति की कल्पना का वेदान्त में भी अंकन है। वेदान्तीगण उसे परामुक्ति कहते हैं। इसमें एक की मुक्ति के साथ-साथ सर्वमुक्ति भी सम्पन्न हो जाती है। यह आदर्श अब तक कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। यह भी दिक्दर्शन नहीं मिलता कि यह कार्य कैसे सम्पन्न होगा? अतः आचार्यो की दृष्टि ईश्वरसायुज्य के लक्ष्य में निबद्ध रहती है। यह सब अधिकारी पुरुषों का अपना सिद्धान्त है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इनके सिद्धान्तों में पारस्परिक मत-भेद तथा दृष्टिभेद की समस्या बनी रहती है। किसी आचार्य का मत है कि जब तक यथार्थ अवतरण नहीं हो जाता तब तक सर्वमुक्ति का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। अवतरण का अर्थ है अनुक्रोम तथा विलोम गति की पूर्णता एवं उनमें पारस्परिक सामंञ्जस्य का उदय होना। केवल अनुक्रोम गति से विश्वकल्याण संभव नहीं है। अनुलोम गति द्वारा आत्मा का आवरण धीरे-धीरे खुल जाता है और अन्त में ब्रह्मस्वरूप में प्रवेशाधिकार के साथ-साथ ब्रह्मतादात्म्य की प्राप्ति होती है। यहां यह ज्ञातव्य है कि इस अवस्था के पश्चात् ब्रह्मभावमय होकर मूल केन्द्र पर्यन्त अवतरण होना अत्यावश्यक है। इस स्थिति के अभाव में निम्नस्थ जीव समूह का हितसाधन नहीं हो सकता। लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् वापस आने की शक्ति न रहने पर जीव जगत् का कल्याण हो ही नहीं सकता। अतः लक्ष्य में प्रवेश की शक्ति के साथ-साथ वहां से वापस लौटने की शक्ति का जाग्रत होना आवश्यक है। इसी के लिये लक्ष्य साधना का विधान किया जाता है। प्रकारान्तर से यह कह सकते हैं कि सर्वप्रथम लक्ष्य प्राप्त करने की शक्ति का होना आवश्यक है। तत्पश्चात् लक्ष्यगत् होकर, वहां की शक्ति धारण करके पुनः अधोभूमि पर्यन्त लौटना ही होगा। तभी जीव जगत् का कल्याण संभव होगा। अति प्राचीन काल में इस रहस्य का ज्ञान किसी-किसी महापुरुष को था। इसी कारण ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान रूप में एक ही महासत्ता का तीन विभाग परिकल्पित करते हुये, ज्ञान, योग तथा भक्तिमार्गधारा की कल्पना की गयी थी। इसी परम्परा में चलते हुये आधुनिक काल के कतिपय महापुरुषों ने ब्रह्मभाव प्राप्त करने के उपरान्त योगभाव, तथा योगभाव आयत्त करने के पश्चात् भगवद्भाव प्राप्ति हेतु साधना किया था। ब्रह्मभाव से योगभाव में संचार का अर्थ है ज्ञान कार्य सम्पन्न करना। ज्ञान दृष्टि से अद्वैतसत्ता में स्थिति प्राप्त करने के साथ ही योगमार्ग द्वारा परमात्मरूप की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मभावापन्न विदेह स्थिति में आत्मा का बाह्यस्पन्दन अर्थात् बाह्यदेह सम्बन्ध नहीं रह जाता। कुछ विद्वान् इस स्थिति में भी देह सम्बन्ध मानते हैं। यह भौतिक देह सम्बन्ध न होकर स्वरूप देह की स्थिति है। तांत्रिक दृष्टि से यही शाक्त देह है। इस देह की स्थिति शोधित लक्ष्य में ही है। अन्यत्र इसकी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शोधित लक्ष्य में अचित् का किंचित् सम्बन्ध भी नहीं है। सब कुछ चित् है। एतद्विपरित परमात्मा प्रकृति का अधिष्ठाता है। अतएव परमात्मोपासक योगी का देह सम्बन्ध विगलित नहीं होता। यह देह मनोमय देह है। भोगावस्था में आत्मा परमात्मा का स्वांश है। योग का उत्कर्ष सम्पन्न होने के साथ आत्मा ही परमात्मरूप में आत्म-प्रकाश

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करता है। परमात्मभाव का तात्पर्य है अभेद में भेद का स्फुरण। आत्मा परमात्मा का अंश होने पर भी भिन्नांश है। योग का पूर्ण विकास होने पर आत्मा का भी पूर्ण विकास होने लगता है। अब आत्मा ही परमात्मस्वरूप में भासित होने लगता है। ब्रह्मभाव विदेह अवस्था है। परमात्मभाव देहाधिष्ठित स्थिति है। यद्यपि यह मनोमय राज्य है, तथापि योगी ने स्वकीय चित्शक्ति के द्वारा मनोमय सत्ता को चिन्मयरूप में परिणत किया है। इस स्थिति में अपना मन भी चिन्मय है और मनोगम्य विषय भी चिन्मय रूप है। मन का पूर्ण विकास होने के पश्चात् योगावस्था से निर्गमन हो जाता है और योगी भक्तिराज्य में प्रवेश करता है। ब्रह्मभाव में एक ही सत्ता रहती है। वहाँ आत्मा ही ब्रह्म है। परमात्मावस्था में सत्ता एक होने पर भी अंशांशीभाव विद्यमान रहता है। (आत्मा अंश और परमात्मा अंशी)। योगावस्था की पूर्णता के पूर्व आत्मा परमात्मा के साथ युक्त रहता है। योगावस्था की पूर्णता के पश्चात् आत्मा भगवद्भूमि में प्रविष्ट हो जाती है। ज्ञानी के लिये अपने से अभिन्नरूप ब्रह्म ही योगी के सम्मुख परमात्म रूप से प्रकाशित होता है। परमात्मा न तो भिन्न है न अभिन्न। तब वह अंशी है। आत्मा अंश मात्र है। भक्तिराज्य में प्रवेश के साथ-साथ परमात्मा ही भगवद्रूप हो जाता है। भगवद्रूप अपने स्वरूप से भिन्न है। आत्मा अब न तो ज्ञानी है न योगी। वरन् भक्त है। आत्मा की भक्तरूपता भगवान् को उपास्य बना देती है। आत्मा का अवलम्बन है भक्ति का आश्रय। भगवान भक्ति के विषय तथा अवलम्बन हैं। दोनों विभक्त प्रतीत होने पर भी मूलतः नित्यसम्बन्ध युक्त ही हैं। दोनों अलग हैं, तथापि एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते।

इस अवस्था में अचित्भाव नहीं रह जाता। मनोमय तत्त्व भी अवशिष्ट नहीं रहता। अब चिन्मयत्व तथा आनन्दमय तत्त्व की सत्ता प्रतिफलित हो उठती है। भक्त के सम्मुख समस्त विश्व चिन्दानन्दमय रूप से प्रस्फुटित होने लगता है। अपना शरीर तथा पांचभौतिक जगत् भी चिन्दानन्द रूप है। अब देश काल जनित बन्धन नहीं रहता। नियम बद्धता भी उच्छिन्न हो जाती है, सर्वत्र स्वातंत्र्यमयता का उल्लास अनुभूत होने लगता है। उसकी दृष्टि में समस्त जगत् प्रेममय हो चुका है। आश्चर्य तो यह है कि इस अवस्था की गोपनीयता मात्र भक्त तथा दिव्यदृष्टि सम्पन्न महापुरुष के सम्मुख ही प्रकट होती है। यहाँ तक कि भक्त के अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति भी उसकी स्थिति के सम्बन्ध में नहीं जान सकते। यह अत्यन्त उच्च अवस्था है, तथापि इससे विश्वकल्याण साधित नहीं होता। यह प्राप्ति केवल एक की अर्थात् भक्त की अपनी प्राप्ति है। यह सत्य है कि भक्त की कृपा से अन्य का कल्याण हो सकता है, परन्तु सीमित देश तथा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

काल में ही। यह कृपा सर्वदेशिक तथा सर्वकालिक नहीं होती। इसका कारण यह है कि ब्रह्मभाव से भगवद्भाव पर्यन्त की प्राप्ति केवल भक्त को ही हो सकी है, अन्य को नहीं। साधक लक्ष्यशोधन के पश्चात् ब्रह्मशक्ति रूप चित्शक्ति को आयत्त करता है। तदनन्तर वह परमात्मभूमि एवं भगवद्भूमि पर्यन्त उत्थित होता है। परमात्मभूमि (योगभूमि) में अन्तर्जगत् तथा मानस जगत् के अचित् भाव का त्याग करके चित् भाव की प्राप्ति करता है और ज्ञानी आत्मा योगीरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इसके पश्चात् परमात्मभूमि से भगवद्भूमि में संचार करते-करते समस्त इन्द्रियगोचर स्थूल जगत, इन्द्रियरूपी करणवर्ग एवं पांचभौतिक देह चिदानन्दमय रूप में परिणत हो जाता है। देशकालादि का बन्धन उच्छिन्न हो जाता है। नित्यानन्दभूमि में नित्यानन्द की हिल्लोर उठने लगती है। सब तो हुआ, परन्तु सबका नहीं, मात्र उस भक्त का हुआ। यह सम्पत्ति भक्त की अपनी सम्पत्ति है। भक्त की कृपा से अन्य को भी दर्शन प्राप्त हो सकता है। एक बार नहीं, बारंबार दर्शन प्राप्त हो सकता है, तथापि अन्य को यह परकीया की भांति प्राप्त होता है। स्वकीया के रूप में प्राप्ति नहीं होती। कारण, यह भक्त की अपनी वस्तु है, भक्त के कृपापात्र के लिये यह परकीया वस्तु है। यद्यपि भक्त की कृपा से अन्य व्यक्ति को इस अतुल ऐश्वर्य तथा माधुर्य का अनुभव मिल जाता है, तथापि यह भक्त की ही सम्पत्ति है। उस कृपापात्र की अपनी सम्पत्ति नहीं है। इस कारण एक की प्राप्ति से सब की प्राप्ति साधित नहीं होती।

*

अखण्ड महायोग

परमाराध्य विशुद्धानन्द परमहंसदेव द्वारा उपदिष्ट अखण्ड महायोग की विवेचना "अखण्ड महायोग" पुस्तक में की जा चुकी है। इस समय उसकी संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत है। अखण्ड महायोग एक गुह्य विषय है। "अखण्ड महायोग" ग्रन्थ में उसका सामान्य दिक्दर्शन मात्र अंकित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनन्त प्रकार के अयुक्त एवं विक्षिप्त भावों को एक सूत्र में गठित करके तादात्म्यरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास ही अखण्ड महायोग पदवाच्य है। शिव-शक्ति, आत्मा से परमात्मा, एक आत्मा से अन्य आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोकलोकान्तर के साथ पारस्परिक योग, इत्यादि सब कुछ महायोग के अन्तर्गत है। यह योग अखण्ड सत्ता के साथ सम्पन्न होते ही सब प्रकार का अभाव सर्वदा के लिये समाप्त हो जायेगा। हम काल, महाकाल तथा खण्डकाल का लक्ष्य करते हैं। महाकाल अखण्ड होने पर भी नित्य सृष्टिशील है। खण्डकाल अतीत, अनागत तथा भविष्य के रूप में त्रिधा विभक्त है। यह काल स्रोत अनादि काल से चलता आ रहा है। एक ऐसी भी स्थिति है, जहाँ त्रिकाल नहीं है। वहाँ मात्र नित्य वर्त्तमान प्रकाशित है। सब वस्तु समूह भी नित्य प्रकाशमान हैं। वहाँ परिणाम का सर्वथाभाव है। अब प्रश्न उत्थित होता है कि क्या यह महायोग अतीत अथवा वर्तमानकाल में, विश्व में, प्रतिष्ठित हो सका है? इस योग के लिये मनुष्य को क्या चेष्ठा करनी चाहिये। यह योग आज तक इस जगत् में अवतीर्ण नहीं हो सका है। यदि यह योग विश्व में अवतरित हो जाता, उस अवस्था में किसी एक की प्राप्ति ही सब की प्राप्ति हो जाती। एक की मुक्ति ही सब की मुक्ति होती। एक की प्राप्ति से सब की प्राप्ति (पूर्ण रूप से अथवा अंशरूप से) संभव होती। तब समष्टि-दृष्टि से समस्त जगत् का तादात्म्य प्रतिष्ठित हो जाता।

अखण्ड महायोग की साधना में मनुष्य की आन्तरिक प्रचेष्ठा तथा परमात्मा का परम अनुग्रह एकान्तभाव से प्रयोजनीय है। पुरुषाकार तथा एकीकरण प्रमुखतः आवश्यक है। कर्तृत्वाभिमान की स्थिति में निम्नतत्व से उर्ध्वतत्व पर्यन्त आरोहण में तत्व भेदन की प्रक्रिया भी अपरिहार्य है। ये सब तत्व (मायिक जगत् में) व्याप्य-व्यापकरूप में अध-उर्ध्वरूप से अवस्थित हैं। पुरुषकार द्वारा तत्व को जय करना चाहिये। इससे योगाधिकार प्रसारित होता है। निम्नस्तर से उर्ध्वस्तर की ओर उत्थित होते समय निम्नस्तरव्यापी मण्डल उर्ध्वस्तरीय व्यापक मण्डल के रूप में परिणत हो जाता है। उर्ध्वस्तरीय मण्डल उत्तरोत्तर अधिक व्यापक होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्तिम शेषतत्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्व से व्यापक तत्व में उत्थान करते समय कर्मगत् कौशल ही सहायक होता है। पुरुषकार द्वारा तत्व भेदन करते-करते सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करने से विश्वाधिष्ठातृत्व संभव है। यह योगसाधना की एक धारा है। योग साधना की द्वितीय धारा में परमेश्वर की महाकरुणा प्राप्त होती है। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत अथवा ज्ञानगत योग्यता पर आश्रित नहीं है। जीव के ऊपर महाकृपा की वर्षा परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति की परिचायिका है। यह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अहेतुक है। कर्म का फल है, कैवल्य। मनुष्य के मलरूप आवरण कर्म के प्रभाव से अथवा किसी अचिन्त्य कारण से क्रमशः शिथिल होने लगते हैं। इनकी समाप्ति के पश्चात् परमेश्वर की कृपा का अनुभव होता है। इस कृपा वर्षण से जीव शिवरूप हो जाता है। इसी समय से परमेश्वरी क्रियाशक्ति का कार्य प्रारंभ होता होता है। परमेश्वर की कृपा के पश्चात् जीव का कर्तृत्वाभिमान मूलक कर्म अस्तमित हो जाता है। कृपा के प्रभाव से पूर्णज्ञान का संचार होता है एवं क्रिया शक्ति के विकास के साथ-साथ आवरण अपसारित हो जाते हैं। यही है शिवत्व की सम्यक् अभिव्यक्ति। कर्तृत्व अभिमान मूलक कर्म से परम उत्कर्ष की प्राप्ति नहीं होती, परंतु परम कृपा का उदय हो सकता है। परम कृपा का उदय भले ही न हो, तथापि कर्तृत्व मूलक कर्म द्वारा जीव तत्व-तत्त्वान्तर का भेद करते हुये उर्ध्वगति प्राप्त कर लेता है। अभिमान मूलक कर्मगत् उत्कर्ष के अनुसार जीव जितनी भी उर्ध्व स्थिति आयत्त करता है, वहां तक वह जीवों का गुरु रूप से उद्धार करने में समर्थ हो जाता है। उससे उर्ध्व स्तर में उद्धार करने में समर्थ नहीं होता। जगद्-गुरुत्व की प्राप्ति के लिये जीव को मायातत्व पर्यन्त उत्थित होना आवश्यक है। साथ ही जगद्गुरुत्व के लिये भगवदकृपाशक्ति का अधिकारी होना भी आवश्यक है। इस भूमि में कृपा एवं कर्म का सम्मिलन अनुभूत होने लगता है। यह कार्य व्यष्टि रूप से हो सकता है, और समष्टि रूप से भी इसे सम्पन्न किया जा सकता है। करुणा के आधिक्य से व्यष्टिरूपता ही समष्टिरूपता में परिवर्तित एवं विकसित होने लगती है।

प्राप्ति एवं अनुभव एक नहीं होता। प्राप्ति होने पर भी अनुभव नहीं हो सकता तथा प्राप्ति का अनुभव होने पर भी प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्णत्व के लिये दोनों आवश्यक है, अर्थात् आवश्यक सत्ता की प्राप्ति तथा उसकी प्राप्ति का बोध अनुभव में आना चाहिये।

अखण्ड महायोग का लक्ष्य है गुरुशक्ति के प्रभाव से काल की निवृत्ति। यह प्रक्रिया खण्ड रूप से अनादि काल से होती चली आ रही है। समग्र रूप से, अखण्ड रूप से, सामूहिक कल्याण निष्पन्न नहीं हो सका है। परार्थप्रवण महापुरुष तथा सिद्ध पुरुषगण दीर्घकाल से सामूहिक कल्याण की चेष्टा करते आ रहे हैं, परन्तु चेष्टा द्वारा अखण्ड महायोग का अवतरण संभव नहीं है। इसके लिये उसके पूर्णाङ्ग का सम्पन्न होना परमावश्यक है। पूर्ण ब्रह्म अखण्डरूपेण अपने स्वरूप में विराज-मान है। इसका अनुभव करने के लिये योगीगण कालराज्य का अतिक्रमण करते-करते पूर्णब्रह्म में प्रवेश करते हैं। इस महान् अभियान से भी अखण्ड महायोग का अवतरण नहीं हो सका। इसका कारण यह है कि वे पूर्ण ब्रह्म में प्रवेश करके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अभेदत्व की प्राप्ति में लीन हो गये। उनका अवतरण होना संभव नहीं है। इसके लिये आवश्यक है, आरोहण कार्य समाप्त करके महाशक्ति के साथ स्वतादात्म्य सिद्ध करना तथा स्वयं महाशक्ति सम्पन्न होकर महाप्रेमघन हेतु अवतरण करना। महाशक्ति के साथ युक्त होकर परब्रह्म में प्रवेश किये बिना वापस आना होगा। परब्रह्म में प्रवेश करने के उपरान्त पृथ्वी रूपी जगत् में लौटना संभव ही नहीं है। इस प्राप्ति के अभाव में पृथ्वी पर पूर्णत्व की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस अवतरण का उद्येश्य है विशुद्ध प्रेम साधना। प्रेम साधना की पूर्णता में योगी का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। यह साधना दिव्य लोक में संभव नहीं है। प्रेमसाधना की पूर्णता से महाशक्ति से योग हो जाता है। मनुष्य आरोहण क्रम में साधन बल से महाशक्ति तादात्म्य की प्राप्ति करता है। इसके पश्चात् महाशक्तिभावापन्न सत्ता तथा महाप्रेमसिद्ध सत्ता का मिलन घटित होता है। इससे वह प्राकृत् विश्व में प्रविष्ट होने का सामर्थ आयत्त कर लेता है। अतीत काल में बुद्धदेव ने महाबोध प्राप्त करने के अनन्तर निर्वाण में प्रवेश नहीं करके बुद्धत्व ग्रहण किया।

यहाँ पुनः एक प्रश्न उत्थित होता है। साक्षात् महाशक्ति से महाप्रकाश में प्रवेश करने के पश्चात् सत्ता का पुनरुन्मेष कैसे हो सकता है ? वहां अनन्त काल के लिये विलय अवश्यम्भावी है। महाशक्ति अवस्था में पूर्ण ऐश्वर्य रहने पर भी महाप्रकाश का साम्य नहीं रहता। अतः स्वातंत्र्य भी नहीं रहता। यही कारण है कि परब्रह्म में प्रवेश करने पर पुनरुत्थान संभव नहीं है। महाप्रेमावस्था की स्थिति अन्य प्रकार की है। महाप्रेम सिद्ध होने पर महाप्रकाश के साथ साम्य उत्पन्न हो जाता है। साम्य हो जाने पर लीन होने का भय नहीं रहता। स्वातंत्र्य रहने के कारण वह अलग हो सकता है। सिद्धगण महाप्रकाश का परिचय जानते हैं। स्वरूप का बोध भी करते हैं तथापि उसमें प्रवेश नहीं करते। प्रवेश करते ही लीन हो जाने का भय रहता है। सिद्धमण्डली में ऐश्वर्य का प्राचुर्य है, तथापि प्रेम का अभाव है। अतः वे साधक की सहायता पीछे से कर सकते हैं। सामने आकर कुछ भी नहीं कर सकते। प्रेमसिद्धि के अनन्तर महाप्रकाश में प्रवेश करना चाहिये। तत्पश्चात् प्रकृतिगत तत्वों में प्रवेश करके निम्नतम भूमि तक अवरोहण करना चाहिये। इससे स्वातंत्र्य शक्ति उन्मीलित होती है और जगत् में महाप्रेम का पूर्ण विकाश संभव हो सकता है। अब कालराज्य भी गुरुराज्य के अन्तर्भुक्त हो जाता है। कालराज्य की पूर्ण निवृत्ति के पश्चात् गुरुराज्य का कोई प्रयोजन नहीं है। कारण गुरु का कार्य है काल से रक्षा करना। जब काल नहीं है तब एक मात्र अखण्ड आत्मा विराजमान है। अनन्त आनन्दरूप में, अनन्त विचित्र्यमय स्वरूप में स्वयं ही स्वयं से लीला करता है। उस स्थिति में एक भी है और अनन्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषयपूर्ण बहुत्व भी विद्यमान है, किन्तु दोनों स्थिति में कोई भेद नहीं है। काल, अविद्या, माया की सत्ता भी नहीं है, अथच लीलारूप से ये सब भी विद्यमान हैं। यही है पूर्ण अद्वय स्वरूप, पूर्ण ब्रह्मरूपी आत्मा का निज स्वरूप। अनन्त प्रकार की लीला करते हुये भी कालातीततत्व नित्य साक्षीरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस अवस्था में प्रकृति राज्य में कुछ भी नहीं रहता, अथच सब कुछ रहता है। यही अखण्ड महायोग है।

यात्रा

प्रथम यात्रा है जड़भाव का त्याग तथा मनुष्य भाव की प्राप्ति ! द्वितीय यात्रा है मनुष्यभाव त्याग और भगवद्भाव लाभ ! तृतीय यात्रा है भगवद्भाव में मग्नता फलतः अनन्त वैचित्र्य का संधान !

परमपूर्ण आत्मस्वरूप भगवत् सत्ता का निर्गमन ब्रह्मसत्ता से हुआ है। इसके मूल में पूर्ण परब्रह्म की आत्मसाक्षात्कार रूप संकल्पना शक्ति ही एक मात्र कारण है। जब भगवत् सत्ता में स्वयं को जानने का सकल्प उदित होता है, उस अवस्था में क्रमशः आत्मा तथा विश्व का आविर्भाव होने लगता है। सर्वप्रथम अखण्ड विराट अनन्त से अहंरूप आत्मा उदित होता है साथ ही प्रतिद्वंद्वी प्रकृति भी इदं रूपेण आविर्भूत होती है। कोई आचार्य इस अहंइद को पुरुष प्रकृतिरुप से वर्णित करते हैं। क्रमशः आत्मारुपी पुरुष प्रकृति के साथ युक्त होकर क्रम-विकास के पथ पर अग्रसर होता है। आत्मा चिद्रूप है प्रकृति का रूप अचिद् कहा जाता है। अभिव्यक्त अवस्था में चिद् तथा अचिद् अविविक्तरूप में प्रकाशित रहते हैं। अचिद्तत्व अहंरूप आत्मा की देहरूप में कल्पित होता है। प्रथमतः अस्पष्टरूप में प्रकृति देहादिरूप धारण करके भोक्ता आत्मा के साथ मिल जाती है। यह है ८४ लाख योनियों के क्रमविकास की धारा। इस धारा में स्थावर सत्ता से ही जंगम सत्ता का उदय होता है। यहां यह स्मरणीय है कि स्थावर तथा जंगम, दोनों का ही क्रम है। अन्त में मनुष्योत्पत्ति होती है। यह है प्रकृतिरूपा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शक्ति का क्रम विकास। इस क्रम विकास में सर्वाग्र में अन्नमय कोश का उदय होने के पश्चात् क्रमशः प्राणमय और मनोमय का विकास परिलक्षित होता है। मनोमय कोष का प्राथमिक विकास मनुष्येतर प्राणियों में भी दृष्टि-गोचर होता है, तथापि इसका पूर्ण विकास एकमात्र मनुष्य देह में ही है। मनुष्येतर जीवों में मन का आभास है, परन्तु मन नहीं है। मनोमय कोष विकास तथा मनुष्यदेहोत्पत्ति प्राकृतिक विवर्तन का सर्वश्रेष्ठ एवं मुख्य फल प्रतीत होता है। मन के लीलाक्षेत्र में षट्चक्र का विकास होता है। विवेक शक्ति के कारण ही मनुष्य को कर्माधिकार मिला हुआ है।

मानव देह में नैतिक जीवन की धारणा की जा सकती है। पशु-पक्षी आदि में मन का विकास नहीं है। अतएव विवेक का अभाव है। इस कारण उनसे नैतिक जीवन की आशा नहीं की जा सकती। मनोमय कोष के विकास के कारण धर्म-रूप कर्मसंस्कार इस देह में ही संभव होते हैं। अपने आपेक्षिक स्वातंत्र्य का विकास भी इसी देह में हो सकता है। मनुष्य के कर्म की पृष्ठभूमि में कर्तृत्वाभिमान की सत्ता है एवं कर्म का फलभोग भी करना पड़ता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि धर्माधर्मरूप कर्म के फल से सुख-दुख का अनुभव होता है। मनुष्येतर योनियों में आत्मा कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। मनुष्य देह में आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता बन जाता है। कर्त्ता होकर (आत्मा) कर्म करता है, भोक्ता बनकर फलभोग में लीन हो जाता है। वस्तुतः इच्छा का उदय मानव देह में ही संभव है। यहां यह ज्ञातव्य है कि मानवदेह प्राप्ति के अनन्तर मानव प्रकृति विकसित होती है। इसके विकास में समय लगता है। यह है पशुभाव। इसे वीरभाव नहीं कह सकते। जब आकृतिगत् मनुष्य वास्तविक प्रकृतिगत् मनुष्यरूप में परिणत हो जाता है, तभी वह यथार्थ मनुष्यरूप मे परिणत हो सकता है। मनुष्य देह ही भगवत् प्राप्ति में उप-योगी है। इसी का सम्यक् विकास है भगवद्भाव। पशुभाव से साक्षात् भगवद्भाव का उन्मेष संभव नहीं है। जब तक मनुष्यत्व का सम्यक् विकास नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य कर्माधीन ही रहता है। स्वकृत् कर्म भोग के लिए पुनः-पुनः जन्म-ग्रहण तथा लोकलोकान्तर में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म के प्रभाव से उसे पशु-पक्षी कीटादि से लेकर देवयोनि पर्यन्त संचरण करना ही होगा। कर्मफल भोग समाप्त होने पर पुनः मनुष्य देह में पुनरावृत्ति घटित होती है। इस प्रकार करोड़ों जन्म व्यतीत होने पर मनुष्य का कर्तृत्वाभिमान शिथिल हो जाता है। अब उसे यह ज्ञात होता है कि "मैं कर्त्ता नहीं हूं"। "मैं प्रकृतिगत् गुणों से परिचालित होकर कर्मादि कर रहा हूं"। इससे आगे अग्रसर होने पर उसे उपलब्धि होती है कि वास्त-विक कर्त्ता हैं प्रकृति के स्वामी भगवान ! वे ही सब कुछ करते हैं। अभिमानवशात्

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीव स्वयं को कर्त्ता मान बैठा है। इसके पश्चात् कर्म सन्यास की अवस्था विकसित होती है। इसकी प्राथमिक स्थिति में परमात्मा कर्त्ता हैं और उनसे प्रवर्तित होकर मनुष्य कर्मानुरत है। विकसित स्थिति में ज्ञात होता है कि परमात्मा कर्त्ता हैं। मनुष्य केवल साक्षी मात्र है।

प्रथम यात्रा में आत्मा भगवत् सत्ता में लीन ज्ञानहीन अवस्था से उद्‌बुद्ध होता है। वह ज्ञान प्राप्त करके प्रकृति के क्रम-विकास के अनुसार ८४ लक्ष योनियों में भ्रमण करने के अनन्तर मनुष्य देह का अधिकारी होता है। मनुष्य देहावस्थान स्थिति में कर्तृत्वाभिमान पूर्णतः विगलित न होने तक फलभोग की प्रक्रिया चलती रहती है। मनुष्य देह का वैशिष्ट्य है—कर्तृत्वाभिमान का उदय। इसे नैतिक जीवन भी कहते हैं। कर्तृत्वाभिमान क्षीण होते ही नैतिक जीवन का परिहार हो जाता है। यही है अध्यात्म जीवनारंभ। इस स्थिति में वह कर्तृत्वाभिमान से मुक्त होकर कर्मसन्यस्त हो जाता है। उसे द्रष्टास्थिति की प्राप्ति हो जाती है। यही है प्रथम यात्रा का अवसान। यह है भगवान से मनुष्य पर्यन्त की यात्रा (From God to man) अब द्वितीय यात्रा प्रारंभ होने लगती है। इसका उद्देश्य है मनुष्यत्व से भगवत् सत्ता पर्यन्त का उत्थान। (Journey from man to God)। इस यात्रा में प्रथमतः वैराग्य का उदय होता है। जागतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण शेष हो जाता है। गुरुरूप ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है। विवेक एव ज्ञान का विकास प्रतिच्छवित होने लगता है। प्राथमिक स्थिति में इस यात्रा में गुरु निर्दिष्ट अथवा हृदयस्थ अन्तर्यामी की निर्दिष्ट प्रणाली का अवलम्बन लेना चाहिये। क्रमशः उर्ध्वगति आयत्त होने लगती है। स्थूल देह तथा स्थूल जगत् से वैराग्य पहले ही सम्पन्न हो चुका था। अब सूक्ष्मदेह एव सूक्ष्मजगत्, कारण देह तथा कारण जगत् से भी आत्मा विच्छिन्न हो जाता है। सर्वान्त मे मन से भी वियोग होने लगता है। मनोमय एवं विज्ञानमय कोष स्वतः ही वियुक्त हो जाते हैं। व्यापक मन से भी सम्बन्ध बन्धन उच्छिन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अब ऐश्वरीय शक्ति एव ऐश्वरीय प्रेम प्रस्फुटित हो उठता है। अवशेष मे मन तथा महामन की पूर्ण निवृत्ति के पश्चात् भगवद् स्वरूप की अभिज्ञता होती है। इसे भगवत् प्राप्ति की अवस्था कहते हैं। अब आत्मा को अनुभव होता है कि मैं ही भगवान हूं। मैं ही विश्व का अधीश्वर हूं।" इस सम्पूर्ण अवस्था को पुनः स्पष्ट किया जा रहा है। मनोमय कोष के पूर्ण विकास के पश्चात्, जब नैतिक जीवन में परिपूर्णता आ जाती है, तब आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है। आध्यात्मिक जीवन परिपक्व होने पर आनन्दमय कोष में स्थिति प्राप्त होती है और दिव्य जीवन का उदय होता है। दिव्य जीवन का पूर्णत्व है भगवद्भाव की प्राप्ति। इस बिन्दु पर द्वितीय यात्रा समाप्त हो जाती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। इन दोनों यात्राओं की समाप्ति के साथ-साथ जीव की भगवत् प्राप्ति में स्थायित्व आ जाता है। तथापि यह जीव की स्थायी दशा नहीं है। वह इससे अलग ही अलौकिक अवस्था है।

जगत् सतत् गतिशील रहता है। जीवात्मा जीवभाव का परित्याग करके भगवत् स्वरूप में निरन्तर अग्रसर होता रहता है। (Journy within God) मनुष्य स्वयं भगवत्ता में अनन्तकाल पर्यन्त संचरण कर सकता है। वह इस स्थिति का आस्वादन करने का अधिकारी है। यह भी भगवान की ही महिमा है। इसे स्थिति के दृष्टिकोण से तथा गतिशील दृष्टिकोण से, अर्थात् उभय दृष्टिकोण से अनुभव किया जा सकता है। गतिशील दृष्टिकोण से देखने पर अनन्त स्थिति में अनन्त गति का अनुभव वर्त्तमान है। यह है तृतीय यात्रा का रहस्य। साधारणतया दार्शतिक गण द्वितीय यात्रा के पश्चात् स्थितिरुपी स्थायित्व का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु अद्वैतवादी शाक्तदार्शनिकों के मत से महासत्ता के अन्तंगत् परम गतिरूप का अनुभव भी होता है।

★

सूर्य चिन्तन

नवोदित सूर्य का दर्शन करने के साथ-साथ इस प्रकार का आवाहनात्मक चिन्तन करना चाहिए :—

"ॐ जपाकुसुम संकाशं काश्यपेयं महाद्युति।
ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नं प्रणतोस्मि दिवाकरं॥"

नवोदित सूर्य जवापुष्प के समान रक्तवर्ग है। यह ध्यान करना चाहिये। मध्यान्ह सूर्य रक्तवर्ण नहीं होता "जवा कुसुम संकाशं" का तात्पर्य है कि नवोदित सूर्य अत्याधिक रक्तवर्ण की विशेषता से समायुक्त है। यह सूर्य काश्यपीय धारा से प्रस्तुत है। कश्यप का तात्पर्य है—जो पश्यक अथवा साक्षी है इन्हे वैदिक धारा का संवाहक कहा गया है। ये ही पश्यक रूप से आदिम द्रष्टा हैं। अर्थात् समग्र सृष्टि के आदि द्रष्टा ! इनकी अदिति नाम्नी आदिशक्ति का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अदिति, अर्थात् जहां दिति अर्थात् खण्डता नहीं है। वह अनन्त अखण्ड शक्ति जो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

खण्डतारहित है, अदिति है। दिति शक्ति खंडित तत्व की परिचायिका है। दैत्यों का आविर्भाव दिति शक्ति से ही होता रहता है। आदि द्रष्टा कश्यप की पराशक्ति अदिति ही अखण्ड रूप से विद्यमान रहती है। वह कश्यप से ही प्रसूत है और कश्यप के साथ ही अखण्डरूपेण संयुक्त बनी रहती है। कल्पना द्वारा इनकी रूपकल्पना अथवा विवेचना असंभव है।

समग्र विश्व का अर्थ है कि जो कुछ है वही विश्व है। सब कुछ को लेकर ही विश्वसत्ता प्रतीयमान रहती है। इस सब कुछ के केन्द्ररूप में जो सत्ता नित्यप्रकाशमानतया विद्यमान है, वही कश्यप का स्वरूप है। वैदिक भाषा में कश्यप का अर्थ था देखनेवाला। वे जिस शक्ति से देखते हैं वह है अखण्ड दृक्शक्ति रूपा अदिति। एतद्विपरीत खण्ड दृश्यावभासन करानेवाली खण्ड शक्ति है दिति। सर्वोच्च आत्मचेतना है अदिति। स्वयंप्रकाश सत्ता का भान ही अदिति का स्वरूप है। इस स्वयंम्प्रकाश सत्ता का आश्रय और धारक है कश्यप। कश्यप तथा अदिति की पौराणिक कथा की पृष्ठभूमि में यही महान् रहस्य निहित है। आदिद्रष्टा तथा आदिदृक्शक्ति पारस्परिक, अविनाभूत रूप से समाश्लिष्ट है। इन कश्यप से जो प्रकाशमान हो रहे हैं, अर्थात् उस आदि अनन्त ज्योति से जो प्रथम ज्योति अभिनिश्रित होती है वही सूर्य है। सूर्य प्रथम जात है। बाईबिल का भी यही अभिमत है। सूर्य के पश्चात् सृष्टि की सूचना प्राप्त होती है। यही सत्य आलोचित श्लोक में अंकित है। "काश्यपेय" का अर्थ है कश्यप से आविर्भूत। जो कश्यपरूप आदिद्रष्टा है परमपुरुष आदित्य उन्ही से आविर्भूत हुये है। इनकी विशद् महिमा का वर्णन क्यों किया गया है? इनका स्वरूप क्या है? "ध्वान्तारि" अन्धकार का अपोहन करना ही इनका यथार्थ स्वरूप है। बाह्य अन्धकार जो अन्तरात्म को आच्छादित करता है। समस्त अन्धकारात्मक आत्मावरण को हटाने वाले सूर्य हैं। मायावरण, अविद्यावरण रूपी आवरण से मोह रूपी मोहावरण का गठन होता है। जो इस प्रकार के अन्धकारावरण की रात्रि का विनाश करते हैं, वे ही सूर्य हैं। "सर्वपापघ्नं" जितने प्रकार के कृत क्रियमाण, अतीत तथा वर्तमान के पाप हैं, इनके चिन्तन मात्र से सब का मूलोच्छेद हो जाता है। इनका चिन्तन ही पापनाशक प्रायश्चित्त है। सृष्टि में दृष्टिगोचर यह भौतिक सूर्य यथार्थ सूर्य का प्रतिबिम्ब मात्र है, तथापि इसी भौतिक सूर्य का आश्रय लेकर (आधार लेकर) परमसूर्य का चिन्तन करना चाहिये। इससे क्या होगा? इस पर आलोचित श्लोक में उक्त है "सर्व पापघ्नं" सर्व पापों का विध्वंस होगा। सर्वान्त में "प्रणतोस्मि दिवाकरम्" कहकर सूर्य को समावेशात्मक प्रणाम किया गया है। प्रणाम का तात्पर्य है आत्म समर्पण। देहबोध से मुक्ति।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

काली रहस्य

कालीमूर्ति साक्षात् जगदम्बा की मूर्ति है। परमाशक्ति का ही एक रूप है। पराशक्ति के अनेक रूपों में काली भी एक प्रधानरूप है। काली के भी अनेक अवान्तर रूप हैं, यथा दक्षिणाकाली, वामाकाली, श्मशानकाली, कालकाली, कामकलाकाली, रुद्रकाली इत्यादि। दक्षिणाकाली की वंगदेश में अधिक मान्यता हैं। कालीमूर्ति के पाददेश में शवरूपी शिव विद्यमान रहते हैं। शिव की चैतन्य-शक्ति का देह से उत्थान होने पर देह शवाकृति में परिणत हो जाता है। शव के उपर चैतन्य शक्ति कार्यरत रहती है। इसी कारण शिववक्ष पर काली विद्यमान हैं। शिवत्व प्राप्ति के पूर्व काली की अनुधारणा अत्यन्त कठिन है। शिवत्वलाभ के अनन्तर, शिवत्व प्राप्ति के पश्चात् काली का सन्धान प्राप्त होता है। जीव शवरूप नहीं हो सकता। शिव में ही शवरूप होने का सामर्थ विद्यमान है। काली की चार भुजाओं में एक में अभय मुद्रा तथा दूसरी में वरमुद्रा प्रदर्शित की जाती है। दूसरी ओर एक हाथ में खड्ग तथा दूसरे में असुर का मस्तक विराजित रहता है। असुर अर्थात् महामोह। ज्ञान द्वारा महामोह का उच्छेदन हो सकता है। यही विकल्प जाल है। विकल्प का मूल है मातृका अर्थात् वर्णमाला। ५० वर्णमाला की स्थिति ही महामोह का कारण है। विकल्पनाश के लिये मातृकाओं का उच्छेदन करके शून्यावस्था की प्राप्ति होना आवश्यक है। मुण्डधारण का तात्पर्य है महामोह तथा विकल्परूप का उच्छेद। काली ने विकल्प का नाश किया है, ज्ञान के द्वारा। खड्ग ही ज्ञान का प्रतीक है। काली वर मुद्रा के द्वारा, संसार के सुख प्रदान करती हैं। अन्य हस्तस्थित मुद्रा का अर्थ है मोक्ष दान। वे दिगम्बरा हैं, यह उनकी आकाशरूपता का प्रतीक है। उनका आवरण क्या हो सकता है? अतएव वे दिगम्बरा हैं। जिह्वा बाहर की ओर लपलपाती रहती है। यह निर्विकल्पावस्था का सूचक है। जहां शिवरूपी महाशव विद्यमान है, वही श्मशान है। काली जीवभाव में अवस्थान नहीं करतीं। उनके लिये जीवभाव की परिणति शिवभाव में होना आवश्यक है। शिवभाव से निर्गत शिवशक्ति ही आद्याशक्ति रूप में क्रीड़ा करती रहती है। जीव मृत्यु से ग्रसित होने के कारण शवभाव में स्थित नहीं हो सकता। इसके लिये शिवभावापन्न होना आवश्यक है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

महाशून्य भेदन के पूर्व महाविद्या का प्रादुर्भाव होता है। इनके अन्तर्गत काली, तारा तथा षोडशी की सत्ता रहती है। सांसारिक ऐश्वर्य, माधुर्यादि का शोषण होने के पश्चात् जिस परचैतन्य स्पन्द का उन्मेष होता है, वहीं काली है। इसे अमावस्या भी कहते हैं। षोडशी ही पूर्णिमा हैं। इन्हें सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का प्रतीक कहा जाता है। षोडशी का नामान्तर है ललिता तथा त्रिपुर सुन्दरी। ये अनन्त ऐश्वर्य युक्त हैं। इसी कारण इन्हें राजराजेश्वरी भी कहते हैं। काली से षोडशी पर्यन्त उन्नीत होने का मार्ग ही तारा है। तारा ही तारिणी कही जाती हैं। राम भी तारा ही हैं। काली के गले में मुण्डमाला प्रदर्शित की जाती है। इस माला के ५० विकल्पभूत वर्णमालाक्षर मनुष्य के षटचक्र में विद्यमान् हैं। इनके कारण व्यक्ति अज्ञान सागर में डूबता उतराता रहता है। इस विकल्प उच्छेद के पश्चात् निर्विकल्प अवस्था उपस्थित होती है। काली की कृपा से ही उच्छेदन प्रक्रिया सम्पन्न होती है। काली विकल्परूपी महामोहमय असुर का शिरच्छेद ज्ञान खड्ग द्वारा करने पर भी उसका त्याग नहीं करतीं, प्रत्युत उसे मुण्डमाला में ग्रथित करके धारण करती हैं। यही इनकी मातृत्व शक्ति का प्रतीक है। नरमुद्रा द्वारा स्वर्गाकांक्षी को स्वर्गादिसुख प्रदान करती हैं। जो स्वर्गकामी नहीं होते, उन्हें अभय मुद्रा द्वारा अभयपद प्रदान करती रहती हैं। अतः काली ही यथार्थतः चतुर्वर्ग प्रदायिनी हैं।

वर एवं अभय मुद्रा दक्षिण पार्श्वस्थ हस्तों में विद्यमान है। खड्ग एवं नरमुण्ड की स्थिति वामपार्श्वस्थ हाथ मे अंकित है। यही दक्षिणा काली का रूप है।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माया, प्रकृति तथा सृष्टि

परमेश्वर की अनन्त शक्ति संख्याहीन है। तत्वविचार की दृष्टि से शक्ति का श्रेणीभेद किया गया है। यह श्रेणीभेद अन्तरंग, बहिरंग तथा तटस्थ दृष्टि से किया जाता है। परमेश्वर का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है और उनकी अन्तरंगा शक्ति भी सच्चिदानन्दरूपा कही जाती है। सदंशधारिणी संधिनी शक्ति, चिदंश युक्त संवित् शक्ति तथा आनन्दांश युक्त ह्लादिनी शक्ति का भी वर्णन प्राप्त होता है। इन्ही के मध्य तटस्थ शक्ति का स्थान है। माया बहिरंगा शक्ति है। तटस्थ शक्ति से जीव का, बहिरंगा शक्ति से जगत् का तथा अन्तरंगा शक्ति से चिदानन्द धाम का आविर्भाव होता है। इस प्रसंग में महामाया का वर्णन आवश्यक है। योगमाया का उल्लेख भी प्रयोजनीय है। योगमाया ही चित्शक्ति है। इसमें परमेश्वर कीं नित्यलीला क्रीड़ा चलती रहती है। यह विशुद्धरूपा है। माया के ऊर्ध्व में महामाया की सत्ता का अनुभव होता है। माया के निम्नदेश में प्रकृति विद्यमान है। अतः परमेश्वर की अचित् शक्ति को महामाया, माया तथा प्रकृति रूप से त्रिधा विभक्त किया जाता है। यद्यपि उपनिषदों में माया एवं प्रकृति को एक माना गया है, तथापि यह स्थूल दृष्टिजनित एकीकरण है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है। माया प्रकृति से विलक्षण है, निर्गुण होने पर भी मलिनरुपा कही गयी है। महामाया अपेक्षाकृत् शुद्ध है, तथापि वह भी अचित् ही है। महामाया भेद करने पर माया से मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था में दो प्रकार की परिस्थितियों का उदय हो सकता है। प्रथमतः आत्मा की विशुद्ध कैवल्यावस्था, जिसके साथ चित्शक्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। द्वितीय में परमेश्वर का परम अनुग्रह प्राप्त होने के कारण उन्मनी अवस्था का साक्षात् होता है। उन्मनी अवस्था में आत्मा परमशिव स्थिति में अवस्थान करती है। उन्मनी स्थिति का जैसे अप्रत्याशित उदय होता है, वैसे ही इसकी अवस्था का तिरोधान भी हो जाता है। इसके अनन्तर परमेश्वर की प्राप्ति घटित होती है।

विवेकमार्गी साधक प्रकृति से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् कैवल्यावस्था में स्थित हो जाते हैं, तथापि माया एवं महामाया का भेदन नहीं होने से, त्रिगुणातीत होने पर भी यह निम्नावस्था ही है। इस मार्ग में जब आत्मा माया से मुक्त होती है, तभी इसे उच्चतर कैवल्यावस्था कह सकते हैं। अब यह आत्मा प्रकृति तथा माया से मुक्त है, जन्म मृत्यु चक्र से भी मुक्त है, तथापि चित्शक्ति का विकास न हो सकने के कारण इसे उच्चतम कैवल्यावस्था नहीं कहा जा सकता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यहां चित्‌शक्ति का उन्मेष नहीं है, अतः आत्मा के स्वरूपभूत शिवभाव की अव्यक्तता के कारण इसे उच्चतम अवस्था नहीं कहते। विवेकमार्ग का परम लक्ष्य है उच्चतम कैवल्य की प्राप्ति, जिसमें साधक महामाया का भी अतिक्रमण कर लेता है। इतने पर भी इसे पूर्णत्व की स्थिति नहीं माना जाता। इस उच्चतम स्थिति में आत्मा अचित् सम्पर्क से पूर्णतः मुक्त हो जाता है, तथापि चित्‌शक्ति का उन्मेष न होने के कारण यह निर्वाणानुरूप अवस्था ही है। योगमार्ग की अवस्था विवेक मार्ग से भिन्न है। योगमार्ग द्वारा योगी गुरुप्रदत्त वैष्णव देह (महामाया देह) प्राप्त करता है। शुद्ध विद्या का स्वरूप है—विशुद्ध अहमात्मक ज्ञान। मायिक ज्ञान से इसका पार्थक्य जानना आवश्यक है। मायिक ज्ञान में भेदज्ञान के मूल में माया की सत्ता जड़ित रहती है। अतः प्रत्येक मायीय ज्ञान में इदभाव का अनुप्रवेश परिलक्षित होता रहता है। विवेक मार्ग में अह से इदं का पृथक्‌करण हो जाता हैं। इदं अचित् ज्ञान है और अहं चित् ज्ञान है। अज्ञान अचित् है, अर्थात् अज्ञान में देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से तादात्म्य होने के कारण उन्हीं में अहं की प्रतीति होती है। विवेक की पूर्णता के साथ-साथ अचित् भाव से शुद्ध चित्‌भाव पृथक् हो जाता है। इस परिस्थिति में चिद्‌भावात्मक आत्मा में अह प्रतीति का उदय नहीं होता। वरन् इस स्थिति में इद प्रतीति का लोप हो जाता है। जिस अवस्था में अहं प्रतीति उदित न हो तथापि इदं प्रतीति का लोप घटित हो रहा हो, उसे कैवल्य कहते हैं।

योगमार्ग में यह प्रक्रिया नहीं होती है। योगमार्ग में अहं प्रतीति का क्रमशः विकास होने के कारण, उसी तारतम्य के अनुसार इदं प्रतीति का तिरोधान होता जाता है। सर्वान्त में अहं प्रतीति की परिपूर्णता के साथ-साथ इदं भाव पूर्णतः अस्त हो जाता है। इस स्थिति को पूर्णाहंता कहते हैं। यह परमेश्वर की अवस्था है। दुर्गासप्तशती में इसी स्थिति का निदर्शन निम्नांकित उक्ति के द्वारा किया गया है:—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा" यद्यपि इस अवस्था में समस्त विश्व इदं रूपेण प्रतिभात होता है, तथापि वह आत्मस्वरूप के साथ अभिन्नतया प्रकाशित होता रहता है। आत्मशक्ति का (अखण्ड शक्ति का) स्वातंत्र्यमय अभिन्नरूप भी यही है। यही पूर्णत्व भी है। योगमार्ग का अवलम्बन लेकर ही साधक इस स्थिति को प्राप्त करते हैं। विवेकमार्ग की सीमा तक गति नहीं है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति, माया तथा महामाया का पर्यवसान अहंतारूपी संवित् शक्ति में ही होता है। माया भगवान की ही अचिन्त्य शक्ति है। माया द्वारा जीवरूपी आत्मा विमोहित किया जाता है। पशुरूपी जीव मायारूपी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वशक्ति से जड़ित होकर संसार में विचरण करता रहता है। शुद्ध विद्या के प्रभाव शिवस्वरूप ज्ञान प्राप्त होते ही माया अपने अधीन हो जाती है। वह स्वतंत्र नहीं रह जाती। इस अवस्था में आत्मस्वातंत्र्य का उदय होता है। आत्मा की स्वातंत्र्य शक्ति ही खेचरीचक्र, गोचरीचक्र, दिक्चरीचक्र तथा भूचरीचक्र रूप से आत्मा का अनुगमन करती रहती है। यद्यपि आत्मा शिवरूप है, तथापि पशु अवस्था में आत्मा की स्वातंत्र्यशक्ति खेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरीचक्र रूप से आत्मा को शृङ्खलाबद्ध कर देती है। आत्मा केवल मात्र अपनी शक्ति से ही अभिभूत होता है। आत्मा स्वशक्ति द्वारा क्यों विमोहित किया जाता है? यह आत्मा की नाट्यलीला है। वह स्वेच्छा से, स्वयं का संकोच करते हुये पशु अवस्था का वरण करता है। माया का वरण करके, उसके अधीन होकर कर्मसंश्लिष्ट होता है। फलस्वरूप तदनुसार सुःख-दुःखादि का भोग करता रहता है। कर्म द्वारा कारणदेह का वरण तथा भोग सम्पादन कार्य सम्पादित होता है। कर्म के मूल में माया सतत् विद्यमान है। माया के मूल में आत्मा का संकुचन विद्यमान है। इन दोनों के मूल में स्वातंत्र्य शक्ति की क्रीड़ा ही विद्यमान रहती है। वही दोनों की उत्प्रेरिका है।

भगवान् के आनन्द स्वरूप के माध्यम से सृष्टि का उन्मेष होता है। उपनिषद् में उक्त है :—

"आनन्दाद्धि खलु इमानि भूतानि जायन्ते"।

भगवान् में अनन्त शक्ति है। उसमें भी ५ शक्तियों की ही प्रधानता अनुभूत होती है। तंत्रशास्त्र के अनुसार चित् एवं आनन्द शक्ति, अन्तरंग शक्तियाँ हैं। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति को बहिरंग शक्ति कहा जाता है। अतिसूक्ष्म दृष्टि से चित्शक्ति पूर्णरूप से अन्तरंगा है परन्तु आनन्द शक्ति में अन्तरंगता के साथ-साथ बहिरंगता का भी किंचित् उन्मेष रहता है। सृष्टि के समय इच्छाशक्ति प्रयुक्त होती है। इच्छाशक्ति (सृष्टिकाल में) आनन्द शक्ति का आश्रय लेकर विषयानुरूप प्रस्फुटित होती है। इसका प्रस्फुटन पहले बीजरूप से ही होता है। उदाहरणार्थ योगी की इच्छाशक्ति आम्रफल का आविर्भाव कराने को उद्यत है। अतएव इच्छा के उदय के साथ-साथ अखण्ड आनन्द क्षुब्ध होकर बीजरूप से आम का रुप धारण करता है। यह क्षोभ आनन्दशक्ति में होता है। चित् शक्ति में क्षोभ नहीं हो सकता। अतः चित्शक्ति से सृष्टि नहीं की जा सकती। सृष्टि होती है आनन्द शक्ति से। इच्छा शक्ति के प्रभाव से यह बीजरुप आम भावरुप में प्रकट होता है। अब योगी का ज्ञान आम्र फलवत् आकार-धारण करता है। इस ज्ञानात्मक आम्रफल को केवल योगी ही देख सकता है। यह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सबके सम्मुख प्रकट नहीं है। तदनन्तर ज्ञान से क्रिया का उदय होने पर यह ज्ञानात्मक आम्रफल क्रियाशक्ति से प्रकट होता है। यही बाह्य दृष्टि है। यह है इन्द्रियगोचर आम्रफल। अब इसे सभी देख सकते हैं। इसका आहारादि भी किया जा सकता है। यह है परोक्ष, मायिक सत्ता। अथवा मायिक सृष्टि भी कह सकते हैं। इस आविर्भाव के समान इसका तिरोधान भी संभव है। अर्थात् क्रिया से ज्ञान, ज्ञान से इच्छा तथा इच्छा से आनन्द स्थिति के आरोहण काल में यह आम्रफल पुनः तिरोहित हो सकता है। प्रयोजन होने पर योगी द्वारा पुनः इस आम्रफल की सृष्टि का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इच्छा से आनन्द और आनन्द से चित् पर्यन्त उन्नीत होते ही पुनरुत्थान की समस्त संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। चित् भूमि से पुनरुत्थान नहीं हो सकता।

★

जीव का जागरण

जीव का जागरण अथवा शक्ति का जागरण, एक ही स्थिति का द्योतक है। जीव के जागरण का अर्थ है, देहात्मबोध रूपी निन्द्रा से जाग उठना। इस समय जीव सुषुप्त है। वह स्वयं कुछ भी कर सकने में असमर्थ सा है। जो कुछ भी करता है—स्वप्नवत् पराश्रित रूप से। उसमें पूर्णकर्तृता का अत्यन्ताभाव विद्यमान है। अतः उसे उपनिषद् के आदेश "उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्" को मानकर जागना ही होगा। सर्वप्रथम "उत्तिष्ठत्" कह कर जागृति का संदेश दिया गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को "उत्तिष्ठ कौन्तेय" कह कर प्रबोधित किया था। समस्त जड़त्वात्मक प्रतिबद्धता से मुक्त हो जाना ही उत्थान है। जड़त्वाच्छादन मोहनिद्रा का कारक है। प्रथमतः "उठना" (उत्तिष्ठत्) तदनन्तर जागृति (जाग्रत्)। उत्तिष्ठता संभव होती है हृदय दौर्बल्य के परित्याग से। क्षुद्र हृदय दौर्बल्य का परित्याग करने से उत्थान होता है। संसार में निद्रा से जागते हैं, तब उठते हैं। परन्तु यहाँ पर प्रथमतः उत्थित होकर तदनन्तर जाग्रत होने का निर्देश उपनिषद् ने दिया है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसका रहस्य यह है कि सर्वप्रथम आन्तरिक शक्ति का उत्थान होना आवश्यक है। इस शक्ति के उत्थान से ही जीव का यथार्थ जागरण संभव होता है। शक्ति का जागरण ही जीव का जागरण है। दोनों में कोई भी पार्थक्य नहीं है। प्रकारान्तर से हमारे यथार्थ जागरण से ही शक्ति का जागरण होता है। शक्ति, स्वरूप के साथ ही एकीभूत रूप से संलग्न रहती है। शक्ति की पूर्ण क्रियाशीलता के बिना स्वरूपास्वादन नहीं हो सकता। शक्ति के जागरण के साथ ही स्वरूप भी उद्घाटित होने लगता है। शक्ति हमारे स्वरूप के साथ अभिन्नतया विद्यमान रहती है। आत्मा स्वभावतः जागरण तथा निद्रा से रहित है। वह सर्वदा एकरस रहता है, तथापि जो शक्ति आत्मा में विद्यमान है, उसे सुषुप्ति तथा जागरण, दोनों का भान रहता है। शक्ति के प्रकाश से ही आत्मा आलोकित होता है। इसका अर्थ है कि जीव ने शक्ति के प्रकाश से आत्मस्वरूता को प्राप्त कर लिया। शास्त्रों में शक्ति का पूर्णजागरण पूर्णाहंभाव रूप से वर्णित है। यह सर्वत्र विद्यमान है। इसका आस्वादन सान्त वृत्ति से नहीं हो सकता। अनन्त वृत्ति में ही इसका रहस्य सन्निहित है। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मस्वरूपता की प्राप्ति के लिये शक्ति सातत्य ही एकमात्र कारण है। शक्ति विरहित को आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती।

★

निराकार

क्या ब्रह्म निराकार चैतन्य स्वरूप है? निराकार है क्या? सृष्टि के मध्य आत्म सत्ता विद्यमान है। आत्मसत्ता ने अपना प्रकाश देह रूप में, साकार रूप में किया है। अतः साकार आकृति युक्त जीव निराकार की प्राप्ति कैसे करेगा? निराकार की प्राप्ति की बात अप्रयोजनीय वार्त्ता कही जा सकती है। वस्तुतः निराकार रूप से कुछ भी नहीं है। निराकार का तात्पर्य यह है कि जिसके आकार का निर्णय न हो सके। निराकार से सभी इच्छित सत्ताओं का निर्गमन हो सकता है। जैसे राम प्राप्ति की इच्छा होने पर राम रूप भी निराकार से निर्गत हो सकता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। यदि अनिश्चित स्वरूप निराकर की त्रिकोण रूप से प्राप्त करने की कामना की जाये उस अवस्था में त्रिकोण का साक्षात्कार निराकार में होने लगेगा। चतुष्कोण की कामना होने पर निराकार में ही चतुष्कोण का प्रतिफलन होना संभव हो जायेगा। जहाँ सान्त है Finite है वहाँ सब कुछ निश्चित है। सान्त अवस्था में राम रामरूप है कृष्ण कृष्णरूप है। सान्त अवस्था में त्रिकोण त्रिकोणरूप ही रहेगा और चतुष्कोण चतुष्कोणरूप से ही दृष्टिगोचर होगा परन्तु निराकार की अनन्त सत्ता में राम कृष्ण चतुष्कोण त्रिकोण आदि सब कुछ एक रूप से विद्यमान है। अनन्त निराकार में जहां कहीं भी जाने पर वहीं ही सब कुछ इच्छित विद्यमान रहता है।

★

आत्मसंस्थित स्थिति

गीता के षष्ट अध्याय में "आत्मसंस्थं" शब्द का प्रयोग किया गया है। शैवदर्शन के ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञा हृदय में भी इसका प्रयोग किया गया है। सर्वाग्र में अपनी चिन्तना को आत्मसंस्थित करना चाहिये। अशुद्ध विकल्प का परित्याग तथा शुद्ध विकल्प का आश्रयण आवश्यक है। अन्तःविकास के साथ-साथ शुद्ध विकल्प का परित्याग करके निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करना होगा। प्रारंभ में ही निर्विकल्प गमन की प्रचेष्ठा करना त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया है। ऐसा प्रयास करने से जड़ समाधि लग जाती है। इसी का नाम है प्रकृति लय। यह उत्तम स्थिति नहीं है। एक प्रकार का घोरतर विघ्न है। शुद्ध विकल्पमयी सम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि (निर्विकल्प समाधि) को ही उच्चतर स्थिति कहते हैं। इसी कारण "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" का उपदेश कृष्ण ने दिया है। आत्मविषयक ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर इस ज्ञान की निवृत्ति भी हो जाना चाहिये। ज्ञान वृत्ति का उदय हुआ ही नहीं, तथापि ज्ञानवृत्ति की निवृत्ति हो रही है, यह जड़ समाधि की अवस्था है। "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्" इस पद से ध्वनित होता है कि दो प्रकार की शक्ति साधक के पास होती है। आत्मसंस्थित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न होकर मन का रोध तथा आत्मसंस्थित होने के पश्चात् मन का रोध करना। आत्म संयमित (आत्मसंस्थित) होकर मन का रोध करना ही योग है। आत्म-संस्थितावस्था के अभाव में मन के रोध से जड़ समाधि प्राप्त होती है। यह योग की परिसीमा में नही है। आत्मसंस्थावस्था में ज्ञान का उन्मेष होने लगता है। स्वरूप ज्ञान को ही शुद्ध विकल्प कहा गया है। शुद्ध विकल्प की निवृत्ति के अनन्तर निर्विकल्पावस्था का उदय होता है। यही यथार्थ निरोधावस्था का स्वरूप है।

आत्मसंस्थावस्था के पूर्व मनोरोध कदापि उचित नहीं है। इससे स्वरूप ज्ञान लाभ में घोर बाधा उत्पन्न हो जाती है। फलतः जड़त्वान्धकार द्वारा साधक आच्छन्न हो जाता है। इस पाषाणवत् अवस्था को हेय माना गया है। किसी ने भी इसे वरेण्य नहीं माना है। आत्मज्ञान हो रहा है अथच मन का रोध नहीं है, यही सविकल्प समाधि अवस्था का स्वरूप है। इस समाधि के पश्चात् निर्विकल्प अवस्था में ही आत्मज्ञान का रोध करना चाहिये। यह श्रेष्ठ विधि है। पातंजल दर्शन में भी इसी अवस्था का वर्णन प्राप्त होता है। गीता के अनुसार सर्वप्रथम "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" तदनन्तर "न किंचिदपि चिन्तयेत" की स्थिति आनी चाहिये। यही क्षमतामयी अवस्था है। पहले ज्ञानोदय होना आवश्यक है। अशुद्ध विकल्प की परिसमाप्ति के अनन्तर शुद्ध विकल्प का उदय होता है। शुद्ध विकल्पावस्था में सर्वज्ञता का उन्मेष होना स्वाभाविक सा है। इसे शैवदर्शन में "सर्वज्ञत्व" कहते हैं। शुद्ध विकल्प का रोध करने के उपरान्त निर्विकल्प की प्राप्ति के लिये पश्यन्ति पर्यन्त आरोहण करना चाहिये। पश्यन्ति पर्यन्त आरोहण के अभाव में निर्विकल्प अवस्थान असंभव है। परमसत्ता में प्रथमतः शुद्ध विकल्प का प्रादुर्भाव होने के अनन्तर अशुद्ध विकल्प का भास हुआ है। साधारण अवस्था के साधक वैखरी भूमि में नाद तथा ज्योति की सहायता से शुद्ध होकर उर्ध्वारोहण करते हैं। जो शुद्ध विकल्प पर्यन्त आरोहण नहीं करते उनके समक्ष नाद तथा ज्योति का स्वरूप उद्घाटित नहीं होता। अनेक साधक अशुद्ध विकल्पावस्था में साधना करते-करते नादोदय के द्वारा चित्तशुद्धि सम्पन्न करते हैं। चित्तशुद्धि के पश्चात् ज्योति का उदय होते ही सुषुम्ना का पथ उद्घाटित हो उठता है। यह अत्यन्त विलम्बित प्रक्रिया मानी जाती है। केवल मात्र अधिकारी व्यक्ति ही इस पद पर संचरण कर सकते हैं। शुद्ध विकल्प का उदय गुरुकृपा सापेक्ष है।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वर्णमाला

सृष्टितत्त्व के मूल में कामेच्छा ही कारण है। काम का रूप है "इच्छा" इच्छा का प्रतीक "इ" घनीभूत इच्छा का प्रतीक है। "ई" अर्थात् ईश्वर। तदनन्तर बीज की सत्ता प्रत्यक्ष होती है। इसे उन्मेष कहा जाता है। इच्छा के उदय के अभाव में बीज की प्रत्याशा ही नहीं हो सकती। बीज का अर्थ है वीर्य। काम का उदय होने पर ही वीर्य का आविर्भाव होता है। (यह वार्ता सृष्टि के अत्यन्त शीर्ष-स्तर की है) उन्मेष का अर्थ है ज्ञान। प्रथमतः इच्छा, द्वितीयतः उन्मेषात्मक ज्ञान तदनन्तर क्रिया का आविर्भाव होता है। उन्मेष का तात्पर्य है कि उन्मेष के अनन्तर जिस वस्तु का आविर्भाव होगा, उसका पूर्वाभास। उन्मेष का प्रतीक है "उ" तथा ऊनता का प्रतीक है "ऊ"। ऊनता को ऊर्मि भी कह सकते हैं। यह ऊर्मि प्रकृति गर्त्त में जा पड़ती है। इसी के साथ संचारित होती है, ईशान शक्ति। ज्ञान के साथ ज्ञेय का उदय होने लगता है। अब क्रिया का प्रारंभ होता है, जिसे ए, ऐ, ओ, औ का चिन्ह प्रदान किया गया है। तदनन्तर "अं" रूपी विन्दु का प्रादुर्भाव होता है। इस विन्दु पर्यन्त आगमन तथा प्रत्यागमन होने से विन्दु घनीभूत होकर "अः" रूपी स्फोट को प्राप्त होता है, जिससे व्यञ्जन वर्ण की सृष्टि होती है। स्वरवर्ण में ह्रस्वता, दीर्घता एवं प्लुतत्व विद्यमान है, परन्तु व्यंजन वर्णों में इनका पूर्ण अभाव रहता है। स्वर वर्ण की अन्तर्मिलितावस्था के कारण ही व्यंजन का उच्चारण होना संभव होता है। इस व्यवस्था में अत्यन्त गोपनीय रहस्य सन्निहित है। इस रहस्य के उद्घाटन के साथ-साथ तत्काल स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस रहस्यावृत अवस्था को महाकाल की व्यवस्था कहते हैं। सृष्टिक्रम के उपरोक्त विवरण में यह सम्बद्ध करना आवश्यक है कि "अं" विन्दु से अहं का तथा पश्चात् काल में इदम् का गठन होने लगता है। वास्तव में अहम् ही इदम् का कारण है। प्राथमिक अहम् को इदम् का कारण कहा जाता है। इस प्राथमिक अहम् को ही पूर्णाहं कहते हैं। "एकैवाऽहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा" से यही ध्वनित होता है। एक अहं के अतिरिक्त द्वितीय की सत्ता है ही नहीं। मूलतः एक ही अहं की सत्ता है, जिसने स्वेच्छया उपाधि धारण प्रक्रिया के द्वारा नानात्व का प्रसार किया है।

शिव का पंचमुख है–चित् आनन्द तथा क्रिया। साथ ही शैवागम में कला, तत्त्व एवं भुवन रूप क्रम का वर्णन मिलता है। पंचमुख विज्ञान और कला, तत्त्व एवं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भुवन विज्ञान को आयत्त किये बिना सृष्टि रहस्य का ज्ञान प्राप्त होना दुष्कर है। कला द्वारा तत्व का प्रादुर्भाव होता है। तत्व ही भुवन का कारण है। अर्थात् षट्त्रिंश तत्त्वों से भुवन का गठन हुआ है। एक अक्षर से दूसरे को मिलाते जाने से शब्द का तथा कई शब्दों के संयोजन से वाक्य का गठन होता है। एक वाक्य से अन्य वाक्य का संयोग करते रहने से पदक्रम गठित होता जाता है। इसी पदक्रम का संयोजन करते-करते अध्याय संगठित हो सकता है। इतना विस्तार होने पर भी मूल तत्त्वरूप से अक्षर की ही विद्यमानता सबमें है। सृष्टि क्रम में भी यही नियम कार्यरत है। प्रथमतः कला, कला के पश्चात् तत्त्व, तदनन्तर भुवनावस्था प्रादुर्भूत होती है। कला की समष्टि से तत्त्व और तत्त्व की पश्चात्वर्त्ती अवस्था है भुवन। अनन्त सृष्टियों का उदय तथा ध्वंस सदा होता रहता है। इन सब की पृष्ठभूमि में प्रकाशतत्त्व की विद्यमानता सुस्पष्ट है। समग्र सृष्टि एक ही स्थान से परावर्त्तित हो रही हैं। इस प्रकाश के मध्य अनन्त सृष्टि समूह अवस्थान करता है। सब कुछ इसी प्रकाश के अन्तर्गत हो रहा है। महाप्रकाश के वक्षस्थल पर सृष्टिक्रीड़ा होती रहती है। जैसे चलचित्र पट पर प्रकाश प्रक्षेपित होने के पश्चात् उस प्रकाश के वक्षस्थल पर नानाविध दृश्य प्रतिभासित होने लगते हैं, यहाँ भी वैसा होता है। इसी प्रकाश की क्रमावस्था से कला,तत्त्व एवं भुवन समूह का अंकन होता रहता है। योगी भी अपनी योगशक्ति द्वारा जो कुछ भी रचना करता है, वह सब उसी महाशक्ति से प्रत्याकर्षित है। कारण, सब कुछ महासृष्टिरूप महाप्रकाश में संचित रहता है। प्रकाश सर्वकाल में प्रक्षेपित होता है, यह निर्विवाद सत्य है। सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का चित्रण भी इसी प्रकाश के वक्षस्थल पर होता है। वह अखण्ड सृष्टिरूप है। हम जिसे सृष्टिरूप से प्रत्यक्ष करते हैं, वह अत्यन्त निम्नस्तरीय स्थिति है। सृष्टिकाल में प्रकाश "अ" रूप से प्रत्यावर्त्तित होता है। यह शुद्धतम प्रकाशरूप है। मातृकाविद् इसके स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दर्शन का स्वरूप एवं विघ्न

दर्शन की सत्ता द्विविध है। जिस दर्शन में द्रष्टा की स्थिति अडिग नहीं रह सकती, वह आभासरूप स्पर्शात्मक दर्शन कहा जाता है। इससे आनन्द का आस्वादन तो मिलता है, तथापि कर्मानुगामिनी जैव दशा में यथार्थ परिवर्त्तन नहीं होता। परिवर्त्तन का अर्थ है, एक अवस्था से अन्य उच्चस्तरीय अवस्था में संक्रमण। इसे स्थिति का आविर्भाव कह सकते हैं। आनन्दास्वाद अथवा रसास्वाद भी समाधि में अन्तराय रूपी विघ्न ही है। लय अवस्था भी वरेण्य नहीं है। तमोगुण के प्राधान्य से लयावस्था का उदय होता है। इसे तत्वज्ञान का विरोधी माना गया है। दर्शन का अन्य विघ्न है – विक्षेप। चित्त विक्षेप के अनेक कारण हो सकते हैं। इनके दुष्प्रभाव से चित्तैकाग्रय का उदय नहीं होता। इसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है। तृतीय विघ्न है "कषाय"। रागद्वेषादि ही कषाय हैं। स्तब्धता भी कषाय है। इस कषायदोष की निवृत्ति विज्ञान सापेक्ष है। ध्यान में स्पर्शसुखाभास वास्तविक गन्तव्य नहीं हो सकता। यद्यपि चित्त की एकाग्रता के लिये आनन्दरूप स्पर्श का आभास हितकारी है, तथापि यह सुख का आस्वादन भी भोगरूप प्रतीत होता है। प्रज्ञा का आश्रय लेकर इस सुखास्वाद से विरत रहना चाहिये। इससे चित्त निःसंग होकर एकीभूत हो जाता है। चित् स्वरूप सत्ता में साधक की स्थिति हो जाती है। इसे यथार्थ दर्शन कहते हैं। लय, विक्षेप, चलन तथा आभासन के अभाव में चित्त ही ब्रह्मरूपता धारण करता है। यही निर्विकल्प अवस्था तथा बुद्धभूमि का रूप है। लय अत्यन्त विघ्नकारी माना जाता है। यह एक प्रकार की आलस्यावस्था है, जिसमें चित्त मूर्च्छावस्था के समान बाह्यविषयोन्मुखता में असमर्थ सा पड़ा रहता है। इसे प्रत्यगात्म प्रकाश का संस्पर्श नहीं मिलता। जब अखण्ड वस्तु के ग्रहणार्थ अन्तर्मुख की जा रही चित्तवृत्ति अन्तर्विन्दु तक न पहुंच पाने के कारण पुनः बाह्यविषयोन्मुख हो जाती है, तब उसे विक्षिप्तावस्था कहते हैं। रागादि त्रिविध होते हैं। बाह्य पुत्रादि, ऐश्वर्य, कीर्त्ति आदि में अनुरक्ति ही राग है। कल्पनाधारा को आन्तरिक राग कहा जाता है।

नाना जन्मजनित संस्कार से मलिन वृत्ति ही वासना है। इन सभी के स्पर्श से मलिन चित्त को अनेक उपाय एवं अध्यवसाय द्वारा अन्तर्मुख किये जाने पर भी यदि चैतन्य दर्शन नहीं मिलता, उस स्थिति में वह बीच में ही भ्रान्त होकर स्तब्ध होने लगता है। अखण्ड वस्तु का दर्शन करने की प्रवृत्ति एवं इच्छा का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उदय होते ही रागादि संस्कार उत्थित होने लगते हैं। इसके कारण चित्त स्तब्ध होने लगता है। यह समाधि का महान विघ्न है। हठयोगियों के अनुसार योग की आरंभ, घट, परिचय तथा निष्पत्ति धारा का आश्रय लेना आवश्यक सा है। "आरंभ" दशा में ग्रन्थिभेद जनित लघु आनन्द का अनुभव होता है। घट दशा में कुछ अधिक ग्रन्थियों का भेदन हो जाने के कारण तदधिक आनन्दास्वादन होने लगता है। इसे परमानन्द कहते हैं। तृतीय दशा है परिचय दशा। इसमें और भी अधिक ग्रन्थियों का भेदन सम्पन्न हो जाने के कारण चिदानन्द का प्रादुर्भाव होता है। इन तीनों आनन्दों का भी अन्त में त्याग कर देना चाहिए। यह तीनों आनन्द परिमित आनन्द हैं तथा क्रमशः विकसित होने के कारण इनमें विषयरस रूपता है। सर्वान्त में सहजानन्द का उद्रेक होता है। यह स्वाभाविक तथा आत्मसुखरूप है। इसमें चित्त की एकीभूत सत्ता प्रकाशित होने लगती है। यही राजयोग भी है। स्वरूपानन्द भोगरहित स्थिति है। सानन्द समाधि (सम्प्रज्ञात समाधि) में आनन्दास्वादन होता है, तथापि इसका अतिक्रमण न हो सकने के कारण अस्मिता स्थिति का अनुभव नहीं हो सकता। बौद्धों के मतानुसार काम से कलंकित कलुषित चित्त को साधनोत्कर्ष द्वारा ज्योतिर्मय रूप चित्त में परिणत किया जा सकता है। यही ध्यानचित्त है। इस स्थिति में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता का अवस्थान है। एकावलम्बन के कारण चित्तस्थैर्य का अनुभव हो सकता है। इस प्रकार सुखास्वादनों का परित्याग करते हुये सोपानक्रम से अग्रसर होना अत्यन्त श्रेयस्कर है। ध्यानचित्त में सुख नहीं है। उसमें उपेक्षा तथा एकाग्रता सन्निहित है। इसी की परिपक्व अवस्था को अर्पणा करते हैं। यह पूर्ण समाधि है। इसमें चित्त पूर्णतः जाग्रत रहता है, परन्तु बाह्य इन्द्रियसमूह निष्क्रिय हो जाते हैं। मनोयोग के अभाव में इन्द्रियाँ अपने-अपने आलम्बनों के साथ संयुक्त नहीं हो सकतीं। यहीं यथार्थ एकाग्रता का प्रारूप है। समाधिज चित्त पदार्थ समूह के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करता है। समाधिचित्त जनित प्रज्ञाग्नि में तृष्णा दग्ध हो जाती है।

रूपज्ञान ही शमथ है। इसमें चित्त निर्मल, बलयुक्त तथा तीक्ष्ण हो जाता है। चित्त में भासित हो रहे रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान प्रभृति को अनित्य, दुःखयुक्त तथा शून्यरूप से उपलब्ध करना चाहिये। यही विशुद्ध ज्ञान है। सर्वान्त में इस विशुद्ध ज्ञान से भी चित्त को लौटाकर निर्वाण में लगाया जाता है। यद्यपि यह शान्तावस्था है, तथापि इस शान्तावस्था में तृष्णा हो जाना उचित नहीं कहा जा सकता। इस अवस्था में उदित शान्त्यातृष्णा के कारण निर्वाणरूप परम आलम्बन के स्थान पर उच्चस्तरीय देवलोकों में दिव्य जन्म

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की प्राप्ति हो सकती है तथा निर्वाणगति का अवरोध हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि ध्यानज दर्शन, यथार्थ दर्शन नहीं है। वह आभास मात्र है। ध्यानज दर्शन अंशात्मक है, जबकि ब्रह्मसत्ता का रूप निरंश है। ब्रह्म अंशात्मक नहीं है। आंशिक भावापन्न साधक भी आंशिक का साक्षात् कर सकेगा। ब्रह्म अखण्ड एवं निरंश है। उसके दर्शन को ही पूर्ण दर्शन कहते हैं। ब्रह्म ही सत् स्थिति है। इस कारण ध्यानज दर्शन द्वारा जीवन में परिवर्तन नहीं होता और स्थिति भी नहीं होती।

★

बौद्धकाय

बुद्ध के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, उसका सम्बन्ध एवं साम्य शिवतत्त्व से भी है। बुद्ध त्रिदेहधारी हैं। शिव के भी त्रिदेह का उल्लेख मिलता है। धर्मकाय=शिव। सम्भोगकाय=सदाशिव। निर्माणकाय=अधिकारीशिव एक ही शिव है, परन्तु अवस्थायें भिन्न हैं। वास्तव में यह भेद विन्दु स्थिति में भेदावभासन के कारण प्रतीत होता है। सत्य तो यह है कि परमसत्ता विन्दु से भी अतीत है। जिस अवस्था में समस्त बुद्धगण एक हैं, जहां पूर्णभाव वा अनुभव विद्यमान है, जहां धर्म की अभिव्यक्तिक सत्ता है—वही धर्मकाय है। जो सत्ता महासत्ता से निकलकर सृष्टिदशा की ओर उन्मुख है, जो अध्यात्म तथा आदर्शरूप भाव की ओर उन्मुख तथा अन्तर्दृश्य रूप है, वही संभोगकाय है। इस सत्ता से भाव रूपायित होते-होते कर्मरूप में परिणत होकर निर्माणकाय को प्रस्तुत करता है। यह है बुद्ध की मानवीय मूर्त्ति। धर्मकाय व्यापक अनवच्छिन्न प्रकाशस्वरूप है। इसमें सूक्ष्मरूप से सब कुछ निहित है। यह अनन्त आकाश के सामान अनुभूत होता है। आकाश का आश्रय लेकर ही सब कुछ प्रकाशित होता रहता है। साकार निर्माणकाय के अभाव में धर्मकाय की सत्ता का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

साकार का आकार शुद्ध और चिन्मय है। भाव जगत् में, मनोराज्य में अथवा अचित् आकार रूप में भी यह प्रकाशित होने में समर्थ है। यह देहरूप में, कर्म में अथवा व्यक्तित्व में भी साक्षात्कृत हो सकता है। ध्यानावस्था में धर्मकाय अन्तर्भूत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्योतिर्मय रूप में अनुभूत होता है। यह नित्यरूप है। इसे आकस्मिकरूप नहीं कह सकते। इस प्रकार के दर्शन में ज्योतिर्मय धर्मकाय की पृष्ठभूमि पर संभोगकाय का आविर्भाव होता है। बौद्धगण पारमिता के अभ्यास काल में इसका आस्वादन करते हैं। ध्यानीगण भावना द्वारा प्राप्त करते हैं। अमितधर्म ज्ञानसंचार के कारण तथा तथागत गण के असंख्य कल्प जनित साधनफल के रूप में संभोगकाय का गठन होता है। यह कल्पान्त स्थायी है। यह काय अपने अन्तर्गत धर्मजनित आनन्द का अनुभव करता है। जिस साधक में धर्मकाय का जितना अधिक आवेश उन्मिषित होगा, उसकी स्थूलदेह उसी मात्रा में प्रभावित होगी। इसकी पूर्णता सम्यक् सत् बुद्ध देह में परिलक्षित होती है। इस प्रकार की देह को निर्माण काय कहते हैं।

★

ध्यानतत्त्व

स्वाभाविक रूप से ध्यानस्थ होना भी एक कौशल सा है। स्वाभाविक ध्यान का उदय होते ही ध्यान ही स्वभाव बन जाता है। चित्त स्वतः ध्यानमग्न होने लगता है। अब प्रयत्न जनित ध्यान की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे निद्रावस्था में प्रयत्नरहित स्थिति में भी इन्द्रियाँ अपने विषयों से विमुख हो जाती हैं, उसी प्रकार स्वभावजनित ध्यान का उन्मेष होते ही ध्यान के लिये प्रयत्न समाप्त हो जाता है। यह अवस्था पूर्व स्थिति में ही प्राप्त हो सकना असंभव सा है। इसी कारण प्रयत्नजनित ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। योगसूत्र में समाधियोग तथा क्रियायोग का वर्णन अंकित है। बहिर्मुख चित्त साधक के लिये क्रियायोग हितकारी है। अन्तर्मुख साधक के लिये ही समाधियोग वरणीय है। क्रियायोगान्तर्गत् तपस्या, स्वाध्याय रूप जप, सद्ग्रन्थानुशीलन, ईश्वर प्रणिधानात्मक भजन की गणना की जाती है। चित्त की प्रकृति के तारतम्य से साधना में तपस्या प्रमुख है। तपस्या के साथ जप तथा भजन का समावेश गौण रूप से रहता है। किसी की साधना में जप की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार भजन भाव प्रधान तपस्या के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कोई-कोई विशेषाधिकार सम्पन्न साधक तपस्या, भजन तथा जप—इन तीनों का समभाव से अनुष्ठान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करते हैं। गुरु द्वारा निर्देशित क्रम से क्रियायोग का अनुष्ठान करने से चित्त व्युत्थित भावरूप बहिर्मुखता का परित्याग करके अन्तर्मुखतारूप शान्तभाव पर्यन्त उन्नीत हो जाता है। अब उसके द्वारा समाधियोग का वरण किया जा सकता है।]

समाधियोग ध्यान प्रधान है। चित्त की चञ्चलावस्था में अन्तर्मुखी भाव का उदय संभव ही नहीं है। क्रियायोग से चित्त चाञ्चल्य का उपशमन होता है। यह साक्षात् योग न होने पर भी पारम्परिक योग है। क्रियायोग जनित अन्तर्मुखता के उदय से प्रज्ञा अथवा ज्ञान का अनायास प्रादुर्भाव होना अवश्यम्भावी है। क्रियायोग का मुख्य कार्य है चित्तस्थ अज्ञानादिक समस्त आच्छादनों का सूक्ष्मीकरण। साधक के चित्त में अनन्त क्लेश समूह संस्कार रूप से संचित रहते हैं। यद्यपि क्लेशराशि अनन्त है, तथापि इन्हें प्रधानतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप से पंचधा विभाजित किया जाता है। समस्त क्लेश मूलतः अज्ञानजनित होते हैं। क्लेश समूह अभिव्यक्तावस्था में वृत्ति रूप से तथा अव्यक्तावस्था में संस्कार रूप से जीव को प्रभावित करते हैं। अव्यक्त क्लेश की सहसा पहचान नहीं हो सकती। क्रियायोग द्वारा क्षीण होने के पूर्व तक इनका शक्तिमय अस्तित्व विद्यमान रहता है। अव्यक्त क्लेश सुप्त एवं विच्छिन्न कहे जाते हैं। क्रियायोग के अभ्यास से क्लेशराशि सूक्ष्म हो जाती है और उनकी विक्षेपात्मक आवरण शक्ति निर्बल_सी हो जाती है। अन्य किसी उपाय द्वारा क्लेशक्षय हो सकना दुष्कर है। यद्यपि अन्य उपायों द्वारा इन्हें दबाया तो जा सकता है, तथापि इन्हें क्षय नहीं किया जा सकता। दमितावस्था में दमित क्लेशसमूह उद्दीपक कारण की उपस्थिति में पुनः प्रबल एवं दुर्जय रिपु का स्वरूप धारण कर लेते हैं। सुप्तक्लेशराशि अव्यक्त होने पर भी विरोधीभावापन्न होती है। एकमात्र क्रियायोग द्वारा ही इन्हें निर्बल किया जा सकता है। क्रियायोग द्वारा क्षीण एवं सूक्ष्म कर दिये जाने पर भी सुप्तक्लेश निःशेष नहीं होते। कारण, क्रिया के प्रभाव से संस्कार उच्छिन्न नहीं हो सकते। इनका समूल नाश करने में एक मात्र ज्ञानाग्नि ही समर्थ है। इससे क्रियायोग का प्रभाव हीन हो गया, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिये। क्रियायोग के अनुष्ठान से ज्ञानोद्बोधन होता है। यद्यपि अन्तर्मुख साधक के लिये क्रियायोग की कोई उपादेयता नहीं है, तथापि नवीन साधकों के लिये यह अत्यन्त हितकर है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मगति-आत्मा की स्थिति एवं जीव

देहत्याग के उपरान्त जीव की विदेहस्थिति होती है। साधारण दृष्टि से भौतिक स्थूल देह की गणना ही देहरूप से की जाती है और देह रहित अवस्था को हम विदेह स्थिति मानते हैं। वास्तव में भौतिक देह रहित अवस्था विदेहावस्था कदापि नहीं है। मरणोपरान्त भौतिकदेह नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म तथा लिंग देह की सत्ता रहती है। आदि सृष्टि के समय से ही जीव के लिंग देह की स्थिति का उन्मेष हो जाता है और कैवल्य प्राप्त होने तक यह लिंग देह वर्तमान रहता है। लिंग देह के मूल में कारण सत्ता अविद्यात्मक रूप से विद्यमान रहती है। इसी कारण जगत में लिंगदेह के साथ कारणदेह की सत्ता भी संश्लिष्ट हो जाती है।

मायिक जगत् में सर्वत्र देह की सत्ता परिलक्षित होती है। न्याय वैशेषिक के मतानुसार लिंग देह का आस्तित्व नहीं है। इस मत में आत्मा के सहकारी के रूप में एक-एक मन की सत्ता को माना गया है। जिस प्रकार सांख्य दर्शन के मतानुसार लिंग देह प्रत्येक जीवधारी का सहचर है, उसी प्रकार न्याय वैशेषिक के मत से एक-एक मन एक-एक आत्मा का सहकारी बना रहता है। सांख्य के अनुसार लिंग प्रकृति का विकार मात्र है। विद्यालोक से आलोकित होने पर भी, वास्तव में यह सत्वगुण प्रधान त्रिगुण परिणाम ही है। सत्त्व तथा पुरुष के अनादिकालीन अविवेक के कारण लिंगनिष्ट अविद्यालोक का साक्षात्कार नहीं होता। दीर्घकालीन संसार यात्रा के पश्चात् (जन्मजन्मान्तर के पश्चात्) विवेकज्ञान के उदय से अविद्या की निवृत्ति होती है और निर्गुण चित्स्वरूप पुरुष प्रकृति वियुक्त भाव से स्वरुप का साक्षात्कार मिलता है। पुरुषख्याति के अभाव में गुणवैतृष्णरुप परवैराग्य नहीं होता एवं परवैराग्य के अभाव में पुरुष स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकने में असमर्थ हो जाता है। न्याय वैशेषिक मतानुसार आत्मा मुक्त होने पर भी मन के साथ युक्त रहती है। आत्मा विभु है और मन मुक्तावस्था में निष्क्रिय हो जाता है। अतः मुक्तावस्था में अभिनव आत्मा एवं मन संयोग की संभावना शेष न रह जाने से पूर्ववत् ज्ञान-इच्छादि के उदय की स्थिति नहीं होती। उस अवस्था में धर्माधर्मरुप अदृष्ट नहीं रहता। सुख-दुःखादि की सत्ता भी नहीं रह जाती। मुक्तावस्था में देह नहीं रहती तथा भावी देह निर्माण का बीज भी उच्छिन्न हो जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मुक्तरूप प्रत्येक आत्मा में मन की सत्ता रहती है। यद्यपि इस अवस्था में मन का कोई कार्य नहीं है, तथापि मन रहता है। प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक मन में एक विशेषता विद्यमान रहती है। इस कारण जिस विशिष्ट आत्मा के साथ जिस विशिष्ट मन का सम्पर्क रहता है, वह मुक्तिकाल में भी अक्षुण्ण बना रहता है। यही व्यक्तित्व की विशिष्टता है। सांख्यसम्मत कैवल्य में लिंगभग्न हो जाता है, किन्तु न्याय वैशेषिकोक्त कैवल्य में मन का नाश नहीं होता। कारण मन नित्य है और उसका आत्म सम्बन्ध भी नित्य है। विवेचना से यह ज्ञात होता है कि सांख्योक्त मोक्ष के समय लिंग का नाश हो जाने पर भी लिंग देह रह जाता है। जिस भाव वासना द्वारा लिंग स्थित था, वह नहीं रह जाती। इसी कारण यह कहा जाता है कि लिंग देह नष्ट हो गया। सांख्योक्त मोक्ष के अनन्तर जो लिंग सत्ता अवशिष्ट रहती है, वह शोधित लिंग सत्ता है। इसे ही शुद्धसत्त्व कहते हैं। इसी कारण योगसूत्र में सत्व एवं पुरुष की शुद्धि एवं साम्य का वर्णन अंकित है। अनेक विद्वान लिंग को ही जीव का स्वरूप मानते हैं। लिंगावच्छिन्न चैतन्य ही जीवात्मा है। यद्यपि यह सत्य है तथापि लिंग शोधनोपरान्त जिस शुद्धसत्त्वमय महाकारण देह का सन्धान प्राप्त होता है, उसे तांत्रिक आचार्यगण बैन्दव देह तथा वैष्णवाचार्यगण अप्राकृत शुद्ध देह कहते हैं। यह देह कुण्डलिनी से संगठित दिव्यतनु है। यह अत्यन्त शुद्ध है। तेज ज्योति से ज्योतिर्मय, निर्मल आधार रूप है। यह अचित् है।

इससे भी उर्ध्व उत्कर्षमय विकास के क्षण चित् शक्ति का साक्षात्कार प्राप्त होता है। अब अचित् का आभासमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता, किन्तु अन्तस्थ-भाव में उसकी सूक्ष्म क्रियाशीलता शेष रह जाती है। सामरस्यमयी स्थिति प्राप्त न होने तक ऐसा होते रहना अवश्यम्भावी है। सामरस्य दशा में अचित् की सूक्ष्म-क्रियाशीलता का कोई सन्धान भी नहीं मिलता। प्रत्येक अवस्था एक-एक स्थिति की परिचायिका है। विदेह आत्मा स्वीय योग्यता के अनुसार स्थितियों का वरण करता रहता है। स्थिति की सत्ता स्वीकार करने के साथ-साथ उस स्थिति की प्राप्ति की हेतुभूत गति के अस्तित्व को भी अनिवार्यरूप से स्वीकार करना पड़ेगा। स्थिति के साथ गति का अन्योन्य सम्बन्ध सर्वविदित है।

जीव सुदीर्घकाल पर्यन्त विभिन्न योनियों में भ्रमण करने के उपरान्त मनुष्य देह प्राप्त करता है। कहा जाता है कि ८४ लक्ष योनियों में परिभ्रमण के अनन्तर मनुष्य देह की प्राप्ति होती है। उपनिषदों का मत है कि पंचकोषों का सम्यक् विकास मानव शरीर में ही परिलक्षित होता है। अन्नमय एवं प्राणमय कोष का सम्यक् विकास ८४ लक्ष योनियों में परिभ्रमण करते-करते हो जाता है और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मनोमय कोष के पूर्वरूप का आभास कुछ जीवों में भी परिलक्षित होता है, तथापि वह आभास मात्र ही है। मनुष्य देह में ही मनोमय कोष की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। अपुष्ट मनोमय सत्ता में विवेकशक्ति तथा विचारणाशक्ति का उदय हो ही नहीं सकता। एकमात्र मनुष्य को ही कर्माधिकार प्राप्त है; अतः इसी देह में ज्ञान का उन्मेष हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कृतकर्म फल का भोग केवल मनुष्य देह में नहीं होता, इसके लिये देवादि देह तथा पशु आदि की देह को भी नियत किया गया है। यहाँ एक रहस्य का वर्णन किया जा रहा है। आदि सर्ग में जिस लिंग देह का आविर्भाव होता है, वह मनुष्यदेह गठन से अत्यन्त पूर्व की घटना है। अनादि सुषुप्ति से जीवभाव का स्फुरण होते ही लिंग एवं देह का विकास क्रमिक रूप से होने लगता है। वास्तव में लिंग ही विकसित होता है। अलिंग रूप प्रकृति से स्फुरित होकर लिंग क्रमिक विकास के पथ पर अग्रसर होता जाता है। लिंग अपने विकास काल में क्रमिक विकासानुरूप तदनुकूल देह का निर्माण करता रहता है। लिंग एक ही है, उसका विनाश नहीं होता। भिन्न-भिन्न देहों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के बीच एक ही लिंग अग्रसर होता रहता है। लिंग ही स्वच्छ मनोमय दर्पणवत् अवस्था की सम्प्राप्ति के साथ-साथ मनुष्य देह में प्रविष्ट होता है और उसमें पूर्णाहं है रूपी भगवत् सत्ता का प्रतिफलन झलकने लगता है।

आदि सृष्टि में लिंग में श्रीभगवन के सत् अंश का प्रतिफलन हुआ है। लिंग के उत्कर्ष विधान के फलस्वरूप (मनोमय स्थिति में) लिंग में भगवान के चिदंश का प्रतिबिम्ब भी परिलक्षित होता है। "मैं" रूप धारण करता हूं, यही अभिमान है। इस अभिमान की पुष्टि होना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य देह में कर्म तथा योग के अधिकार से यह अभिमान पुष्ट होने लगता है। इस अभिमान की पूर्ण पुष्टि होने तक कर्म करना तथा उसका फलभोग करना स्वभाव बन जाता है। इस अहंकार की सम्यक् एवं पूर्ण पुष्टि होने के साथ-साथ समर्पण की भावना उदित होती है। विचारशक्ति के समर्पण के साथ-साथ शुद्ध प्रकृति क्रमविकास का भार ग्रहण करती है। ८४ लक्ष अशुद्ध प्रकृति के क्रम विकास का तारतम्य उच्छिन्न हो जाता है। यह कर्म प्रकृति तथा भोगप्रकृति रूप वृत्ति के अवसान का सूचक है। प्रवृत्तियों का अवसान और निवृत्ति का उदय एक साथ घटित होता है। मनोमय कोष की परिणति विज्ञानमय कोष रूप में होती है। यह श्रीभगवान के आनन्दांश के प्रतिफलन का पूर्वाभास है। यह है योग अथवा मिलन की सूचना। विज्ञानमय कोष का विकास आनन्दमय कोष के रूप में होने का क्रम। विज्ञान से आनन्दमय कोष गमन मार्ग की रचना शुद्धा प्रकृति स्वयं करती है। यहां न तो पूर्वोक्त अभिमान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की सत्ता है। और न संसार भ्रमण रूप क्रान्ति ही है। केवल पथ पर खिचते चले जाना है।

अब जीव के स्वरुप की विवेचना प्रस्तुत है। विदेह आत्मा का प्रसंग एक प्रकार से जीव का ही प्रसंग है। यहां यह स्मरणीय है "जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकं" जाति का उच्छेद नहीं है, अथच सब के साथ सब का अभेद भी है। जिस वस्तु में जिस सत्ता का आधिक्य है, व्यवहार में उसे उसी नाम से पुकारा जाता है कि मात्रा भेद से सब में सब कुछ विद्यमान रहता है। किसी वस्तु से किसी सत्ता को पूर्णतः उच्छिन्न कर सकना संभव नहीं है। उसकी मात्रा को अवश्य न्यून अथवा अधिक किया जा सकता है। सृष्टि में सर्वत्र मिश्रण की स्थिति रहती है। अतः सभी वस्तु में केवल एक सत्ता नहीं रह सकती, उसमें अन्य सत्ता का भी समावेश रहता है। साम्य की अवस्था अवश्य है, परन्तु वह अव्यक्त अवस्था है। साम्यावस्था सृष्टि से अतीत अवस्था कही जाती है। उसमें मिश्रण नहीं है। सृष्टि से अतीत साम्यावस्था में सब कुछ पूर्ण अमिश्रित तथा विशुद्ध रुप से स्थित रहता है। यह अवस्था सृष्टि से अतीत होने पर भी सृष्टि की कारण है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण में ही ईश्वरत्व तथा जगद्भाव— दोनों की सत्ता है। ईश्वर पूर्ण है, अतएव उसमें जीव तथा जगत्, उभय की स्थिति सन्निहित रहती है। जगत् में भी जीव है, ईश्वर है और पूर्ण है। सब स्थानों में सब है तथापि अव्यक्त है। व्यक्तित्व के प्रकाश को ही व्यक्त भाव कहते हैं। अतएव पूर्ण के स्वातंत्र्य का संकुचन होने से जीवभाव का उन्मेष होता है। इसी संकुचन से अणुभाव स्फुरित होता है, यह जिस प्रकार सत्य है, उसी प्रकार जड़भाव का भी साथ में उदय होना सत्य है। (संकुचन का फल है अचित अणु का उदय) चिदणु ही संकुचित अवस्था मे परिच्छिन्न अहं रुप से व्यक्त होता है। यही प्रमातृ अवस्था है। यह मायाप्रमाता अथवा चित्त भी कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया में उसी समय इदं रुप से इसी प्रमाता के सामने प्रमेय का उन्मेष होता है। प्रमाता प्रमेय की अवस्थिति के कारण दोनों का सम्बन्ध प्रमिति के रुप में होने लगता है। इस प्रकार त्रिपुटि का सूत्रपात जानना चाहिये।

चिदंश क्रिया रहित है। अचिदंश बोध रहित होता है। दोनों अवस्थायें अपूर्णावस्था हैं। इसी स्थान से उभय के संकोच की क्रीड़ा प्रारंभ हो जाती है। चिदंश में अव्यक्त रुप से अचिदंश की तथा अचिदंश में अव्यक्त भाव से चिदंश की सत्ता सन्निहित रहती है। यही कारण है कि जीवभाव के प्राथमिक स्फुरण काल से लेकर परिपुष्ट विकास तक तीन मुख्य स्तरों का निर्माण होता है। प्रथम स्तर है। शुद्ध जीवभाव (चिदणु)। इसके चतुर्दिक शुद्ध माया का घेरा विद्यमान रहता है। इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थिति में अशुद्ध माया की कोई सत्ता नहीं रहती। इस परिस्थिति में अभेद ज्ञान न रहने पर भी अशुद्ध माया के संस्पर्श से रहित होने के कारण भेदज्ञान की कोई सत्ता नहीं रहती। द्वितीय स्तर में अशुद्धमाया स्पर्श होने कारण भेदबोध का आविर्भाव हो जाता है। प्रथम तथा द्वितीय दोनों स्तर एक प्रकार से सुप्ति के स्तर हैं। प्रथम सुप्ति है शुद्ध माया में तथा द्वितीय सुप्ति अशुद्ध माया स्तर से आच्छन्न है। अभी तक देह प्राप्ति नहीं होती। तृतीय स्तर में देहेन्द्रिय का विकास होता है। द्वितीय स्तर से अवतीर्ण होने के पूर्वक्षण में कर्म संस्कार का भी सम्पर्क होने लगता है। अशुद्धमाया के ऊर्ध्वस्तर में (प्रथम स्तर में) कर्मसंस्कार की सत्ता नहीं रहती।

अज्ञान द्विविध है। शुद्धमाया में जो अज्ञान स्थित रहता है, उसका फल है आत्म में अनात्म बोध। हम जिसे कर्म कहते हैं, वह वहाँ नहीं नहीं रहता। अशुद्ध माया सृष्टि के प्राक्काल में क्षुब्ध होकर कलादि रूप से कर्म का अंश प्रकट करती है। इस परिस्थिति में इस अंश के द्वारा अशुद्ध मायागत देह, इन्द्रिय, भोग्यवस्तु, भोग के कारण तथा भोग भूमि की रचना होती है। इसी समय मायागर्भ से कर्म संस्कार-मय सुप्त जीवाणु जाग उठता है, जिसे स्वकर्मानुरूप देह इन्द्रियादि की प्राप्ति हो जाती है। यह सृष्टि की परावस्था कही जा सकती है। यह क्रम तात्विक अवतरण का क्रम है। काल के प्रवाह में अनादि काल से सृष्टि और प्रलय की क्रीड़ा चलती रहती है। इस क्रीड़ा की धारणा वुद्धि के माध्यम से नहीं की जा सकती। यह नहीं कहा जा सकता कि कब जीवभाव का उदय प्रथमतः हुआ था, कब से वह शुद्धमाया में सुप्त है, कब उसका इस सुप्ति से अशुद्ध माया में अवतरण होगा और कब से यह संस्कार तथा कर्मराशि से आच्छन्न है? तथापि युक्तिसिद्ध कर्म की अनुधारणा व्यवहार भूमि में करना ही होगा। इसका प्रत्यक्ष समाधान जीव को प्रत्यावर्त्तन काल में, ज्ञानालोक में प्राप्त हो जाता है।

यह क्रम आरोहण काल में अनुभूत किया जा सकता है। पुनः इसी क्रम के अनुसार अवरोहणरूप प्रत्यावर्त्तन भी सम्पादित होता है। क्रममुक्ति में इस विचित्रता का प्रत्यक्ष किया जा सकता है परन्तु सद्योमुक्ति में क्रम की कोई स्थिति ही नहीं रहती। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जगत की ओर देखने पर यह ज्ञात होता है कि यहाँ सभी जीव देहेन्द्रिय युक्त हैं। इन सभी को अपने-अपने रूप के अनुसार भोग की भी प्राप्ति होती है। इनमें सुख-दुःख का बोध है, देश-काल जनित सम्बन्ध है तथा जाग्रतादि अवस्था भेद भी व्यक्त है। पौराणिकों द्वारा वर्णित १० प्रकार का भूतसर्ग इसी के अन्तर्गत परिगणित है। देवता, मनुष्य, मनुष्येतर प्राणी तथा उद्भिद आदि की गणना भी इसी के अन्तर्गत की जा सकती है। ब्रह्मादिस्तम्भ पर्यन्त यही स्थिति विराजित रहती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वितीय श्रेणी में असंख्य जीव विद्यमान रहते हैं। ये सृष्टि के अन्तर्गत नहीं आते। इनकी देह, इन्द्रियादि नहीं है तथापि कर्मसंस्कार द्वारा आच्छन्न हैं। इस संस्कार का विपाक होने पर, अभिनव सृष्टि के समय (इस प्रकार के जीव) पक्व कर्माशय के अनुसार अधः उर्ध्व अथवा मध्य लोकों में अपने कर्मानुरूप देहेन्द्रिय की प्राप्ति करते हैं। इन जीवों में पहले देहादि न रहने पर भी देहादि का बीज विद्यमान रहता है। यही कारण है कि इन्हें पुनः देह प्राप्ति होती है। इसी बीज के कारण इस श्रेणी के जीवगण स्वयं को माया से पृथक् तथा चिद्रूपमय नहीं जान सकते। फलतः इस अविवेक के कारण इनमें अचेतन (बीजरूप) देह के प्रति आत्माभिमान् विद्यमान् रहता है। अतः कर्तृत्वबोधकर्म तथा संस्कार का स्वरूप भी अवशिष्ट रह जाता है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति होने पर ये जीव स्वयं का चिदात्मरूप से प्रत्यभिज्ञान करते हैं। इस स्थिति में इनकी सत्ता अकर्त्ता होने के कारण कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती है। अब ये जीवगण मायास्तर से उत्तीर्ण होकर शुद्धमाया प्रान्तर में सुप्तवत्, निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। ये जीव अब बोधमय सत्ता से युक्त होकर निष्क्रियभाव से अवस्थान करते रहते हैं। यद्यपि यह भी कैवल्य है, तथापि दिव्य कैवल्य से भिन्न है। इस कैवल्य में कोई आनन्द-बोध प्राप्त करता है तो कोई आनन्द बोध प्राप्त नहीं करता। साधारणतया इनका पतन नहीं होता। इसका कारण है कर्म संस्कार रहितावस्था। इतने पर भी इनका उर्ध्वगमन नहीं होता। इनके लिये पूर्णत्व की प्राप्ति असंभव है। ये दिव्यज्ञान से सम्पृक्त नहीं होते। इनका उत्थान होता है भगवद् अनुग्रह द्वारा। प्राथमिक अवस्था में इनकी स्थिति को केवली मुक्त कहते हैं। केवली मुक्ति प्रकृत मुक्ति नहीं है। पूर्णत्व ही परामुक्ति रूप है।

प्रथमतः जीव की देहेन्द्रिय युक्त स्थिति का वर्णन किया गया है। इस अवस्था में जीव का अहंभाव पुर्यष्टक अथवा बुद्धि से जड़ित रहता है और बुद्धि देह जड़ित रहती है। द्वितीय जीव की अवस्था में अहंभाव आश्रय शून्य है, कारण वहाँ देहेन्द्रिय का पूर्ण अभाव है। अतः ऐसे जीव को शून्यप्रमाता कहा गया है। तृतीय जीव की अवस्था में अहंभाव नहीं है। स्थित है केवल बोध अथवा विज्ञान। चिदणु इस बोध का आधार है। इस जीव श्रेणी को प्रमाता कहते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जाग्रदादि अवस्थात्रय के पारस्परिक पार्थक्य की पृष्ठभूमि में एक निमित्त विद्यमान रहता है। पुर्यष्टक में अहं बोध अपूर्ण दशा में ही रहता है। स्वप्नावस्था में पुर्यष्टक प्राण का आश्रय लेता है। सुषुप्ति में अहन्ता ज्ञान भी तदनुरुप शून्याश्रयी हो जाता है। जाग्रत अवस्था में पुर्यष्टकगत् अहन्ता को शान्त करके परमशिव के साथ ऐक्य लाभ करते हैं। पूर्णाहन्ता की अभिव्यक्ति होना आवश्यक है। सद्‌गुरु दीक्षात्मक सूक्ष्म प्रक्रिया के द्वारा सर्वप्रथम अहन्ता को शान्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करते हैं, तदनन्तर योजना व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, जिसके प्रभाव से शिष्य की अहन्ता शुद्ध अखण्ड प्रकाशरुप शिवस्वरुप में अभिव्यक्त हो उठती है। इसके प्रभाव से पूर्णता बोध स्वरुप अहन्ता का उदय होता है। परमचैतन्य में अहंभाव जाग उठता है। यही है तृतीय दशा। इसको चरम स्थिति को परमशिव भाव कहते हैं।

जो जीव भगवद् अनुग्रहरुप शुद्धविद्या के प्रभाव से महापथ को प्राप्त करते हैं, वे इन तीनों श्रेणियों से पृथक् हैं। वे जीव होने पर भी शिवभाव से युक्त होने के कारण शुद्धाध्वा में संचार करते हैं। वे परमलक्ष्य में उपनीत नहीं है, तथापि परमलक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इन्हें ईश्वरकल्प जीव अथवा सिद्धपद प्राप्त जीव कहा जाता है। इनमें कोई अधिकारी है, कोई स्वानन्द भोगी है और कोई लयावस्थ हैं। ये अपर मुक्त हैं। इतने पर भी परामुक्ति से वंचित हैं। प्रकृत शिवत्व की अभिव्यक्ति न होने तक परामुक्तावस्था का उदय नहीं होता। मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वरादि अनेक स्तरों में यह स्थिति विभाजित है। सर्वान्ति में केवल पूर्णस्वरूप की सत्ता रह जाती है।

वैष्णवगण का कथन है कि चिदगुणस्वरूप जीव पुरुशोतम (परमात्मा) का सनातन अंश है। (गीता तथा ब्रह्मसूत्र द्रष्टव्य) अनेक जीव अनादिकाल से विस्मृति में पड़े हैं, अतः उन्हें परमात्म सत्ता का कोई आभास ही नहीं है। ऐसे जीव मायाराज्य में चक्रमण करते रहने के लिये विवश हैं। वे बहिर्मुख जीव भगवत्कृपा से अन्तर्मुख होकर माया राज्य का अतिक्रमण करते हैं। ये स्व-स्वरूप से युक्त होकर केवली अवस्था में उन्नीत हो जाते हैं। यह है चिदात्मक विदेहावस्था। इस अवस्था में देहेन्द्रिय, भोग्यवस्तु एव प्रमेय की सत्ता नहीं रह जाती। अथच, चैतन्य प्रकाशित रहता है। यह अवस्था शुद्धज्ञान द्वारा आयत्त होती है। इस स्थिति में जीवसत्ता ब्रह्माण्ड में नहीं रहती, तथापि भगवद् धाम में भी प्रवेशाधिकार नहीं मिलता। भगवद्धाम अनन्त हैं। सभी शुद्धसत्त्वमय कहे जाते हैं। वहाँ भक्तगण क्रमशः सालोक्य, सारुप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि प्रभृति मुक्ति की प्राप्ति करते रहते हैं। किसी को सायुज्यमुक्ति भी प्राप्त होती है। अनेक भक्तगण सायुज्य, सालोक्यादि का वरण नहीं करते। वे सदैव सेवारत रहते हैं।

विद्वानों के मतानुसार जीवगण अनन्त काल से बद्ध रहने पर भी सम्यक् समय पर मुक्ति प्राप्त करते हैं, तथापि वैष्णवाचार्यों के मतानुसार ऐसे भी जीव हैं, जो नित्यबद्ध रहते हैं। वे अनादिकाल से बद्ध हैं और अनन्तकाल पर्यन्त बद्ध रहेंगे। यहां अनन्तकाल का तात्पर्य महाकल्पन्त पर्यन्त ही प्रतीत होता है। ईसाई सम्प्रदाय में जहाँ अनन्त स्वर्ग तथा अनन्त नरक का वर्णन है, वहाँ भी काल परिणाम के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दृष्टिकोण से महाकल्पान्त पर्यन्त ही समझना चाहिये। वैष्णवों के अनुसार नित्य-बद्ध जीव ही प्रवाह जीव हैं जो पुष्टि एवं मर्यादा श्रेणी के जीवों से अलग श्रेणी के हैं। जैसे नित्यबद्ध जीवों का वर्णन किया जाता है, तदनुरूप नित्यमुक्त जीव समूह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे जीव कभी भी संसार में नहीं आते। ये भगवत् स्वरूप से निर्गत होने के कारण स्वभावतः अन्तर्मुख रहते हैं। इनका भगवद्ज्ञान सदैव विकसित रहता है। श्रुति के अनुसार "यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः" तथा "यत्र ऋषयः प्रथमजा ये पुराणाः" से इनकी सत्ता सिद्ध होती है। भाष्यकार रामानुज ने नित्यमुक्तों की विभूति का वर्णन "स्वच्छन्दानुवृत्ति" आदि वाक्यों द्वारा सविस्तृत रूप से किया है। ये कभी संसारी नहीं बनते। यही इनका मुख्य वैभव है। ये सभी कैंकर्य रूप से क्रीड़ा करते हैं। इनमें "अनन्त" प्रधान हैं। अनन्त ही शेष हैं।

ये नित्यमुक्त जीव (भगवान के किंकर, पार्श्वचर, आज्ञापालक रूप से) दिव्य ज्योति द्वारा उद्भासित होते रहते हैं। इनकी अपनी इच्छा है ही नहीं। भगवान की इच्छा को ही अपनी इच्छा मानकर उसका पालन करते रहते हैं। सृष्टि एवं प्रलय का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैष्णव साहित्य में गरुड़, अनन्त, विष्वक्सेन प्रभृति रूप से नित्यमुक्त जीवों का उल्लेख मिलता है। वेदमन्त्रों में "सूरि" तथा "दिव्य सूरि" का उल्लेख है। ये नित्यमुक्त जीव सर्वदा निर्निमेष दृष्टि से भगवान के परमपद का दर्शन करते रहते हैं। सूरिगण भगवदांश होने पर भी भगवान के दर्शन में निरत रहते हैं। ईसाई धर्म में वर्णित देवदूत (Angel) भी नित्यमुक्त जीव हैं। ईसाई धर्म ग्रन्थों के अनुसार Angel का भी पतन होता है और उन्हें प्रत्यावर्त्तन के परिणाम में बंध जाना पड़ता है। इस वर्णना से यह सिद्ध हो जाता है कि जैसे अनादिकाल से बद्ध जीवों की स्थिति है, वैसे ही किसी किसी जीव का बन्धनकाल अनादि न होकर सादि भी है। इस सम्बन्ध में वैकुण्ठ से जय-विजय का पतन तथा उनका पुनरुद्धार स्मरणीय है।

जीवों का अन्य भेद भी वैष्णव ग्रन्थों में वर्णित है। कोई पुष्टि जीव हैं, किसी को प्रवाह जीव कहा जाता है और कोई मर्यादा जीव की संज्ञा से समलंकृत किया गया है। श्री सम्प्रदाय के मतानुसार जीव स्वरूपतः अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अतीन्द्रिय सत्तावान है। वह अचिन्त्य, निरवयव, विकार रहित है। वह ज्ञान का आश्रय भी है। अणुजीव हृदय में अवस्थान करता है। वहीं से उत्क्रमण एवं गमनागमन करता है। जैसे प्रदीप अपनी प्रभा द्वारा व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा एक स्थान पर स्थित रहने पर भी ज्ञानधर्म द्वारा सर्वव्यापी है। ज्ञानव्याप्ति के प्रभाव से एक आत्मा, एक ही समय में अनेकानेक शरीर धारण कर सकता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मा ही ज्ञान है और वही ज्ञान का आधार भी है। आत्मा ज्ञाता है, आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता भी है। वही सबकुछ है, अथच कुछ नहीं है। मुक्तावस्था में आत्मवर्ग का स्वरूप भेद विवेचनीय है। किसी-किसी आत्मा का ज्ञान सर्वदा विभु है। किसी का अविभु है, किसी-किसी का ज्ञान कदाचित् विभुरूप होता है। जीव के सम्बन्ध में यादवप्रकाश ग्रन्थानुसार जीव ब्रह्मांश है। भास्कर के मत से जीव स्वोपाधिक ब्रह्मखण्ड रूप विराजित रहता है। एक जीववादीगण के मतानुसार जीव अविद्यापरिकल्पित सत्ता मात्र है। नाना जीववादियों के अभिमतानुसार जीव का स्वरूप है अन्तःकरणावच्छिन्न। बद्ध जीव १४ भुवनात्मक अण्डकटाहवर्त्ती है। वह कीटादि से लेकर चेतन पर्यन्त परिव्याप्त है।

अब अन्य प्रकार से विषय की विवेचना की जा रही है। जीव की शुद्ध, संसाख्य तथा मुक्त अवस्था होती है। कारणब्रह्म अपरब्रह्म से स्फुलिंगवत् सच्चिदानन्दात्मक अणुअंश निसृत होते रहते हैं। तदनन्तर कारणरूप अक्षरगत विशुद्धसत्त्व का अंश प्रबल हो उठता है, जिसके कारण आनंन्दांश लुप्त हो जाता है। अब निरुपाधिक अक्षरांश चित् प्रधान तथा आनन्दरहित रूप से आत्म प्रकाश करता है। इसे ही जीव कहते हैं। आनंन्दांश का विलिनीकरण कब होता है? भगवद् ऐश्वर्य के अंशभूत ऐश्वर्य के तिरोहित होने के पूर्वक्षण में आनंन्दांश विलीन होता है। यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि ब्रह्म व्यापक है, उससे निर्गम कैसे? उत्तर यह है कि व्यापक का अर्थ है जिसमें सब कुछ समाहित है। अतः यदि व्यापक में सीमात्व नहीं, तब वह व्यापक कैसा? व्यापक में ही पारस्परिक विरुद्ध धर्म समाहित रहते हैं। वहाँ से निर्गमन हो सकता है। अतः निर्गम का उपादान ब्रह्म है। निर्गमन क्रिया भी ब्रह्म है। यहां निर्गम होता है, वह भी ब्रह्म ही है। जिसका निर्गम होता है, वह भी ब्रह्म है। श्रुति का सिद्धान्त "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अक्षरशः सत्य सिद्ध हो जाता है। अन्यत्र भी उक्त है :—

यत्र येन यतो यस्य, यस्मै यद् यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात्, प्रधानपुरुषेश्वरः ॥

निर्गम का अर्थ है, आनंदांश का तिरोधान तथा जीवत्वाविर्भाव। आनन्दांश तिरोहित हो चुका है, तथापि अविद्या सम्बन्ध नहीं हुआ है, इस अवस्था के जीव को शुद्धजीव कहते हैं। लक्ष्मीतंत्र में इन्हे "शुद्ध सत्त्व व्यवस्थितिः" रूप से स्वीकृति प्रदान की गई है। जीव का शुद्धत्व है, अविद्या सम्पर्क से दूर रहना। तदनन्तर अविद्यारोपण के साथ-साथ भगवद् ऐश्वर्य के अंशभूत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

षड़्गुणरूप ऐश्वर्य से जीव वियुक्त हो जाता है। यह तिरोधान (ऐश्वर्य तिरोधान) बद्धता का जनक है। तत्पश्चात् देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा अध्यासोदय के कारण स्वरूपविस्मृति जीवसत्ता को आच्छन्न कर लेती है। पंचपर्वा विद्या (वैराग्य, सांख्य, योग, तपस्या एवं भक्ति) द्वारा ही यह आच्छन्नता दूर हो सकती है। इस विद्या के अनुशीलन से मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति के अनन्तर भगवत् लोकों में निवास का अधिकार मिलता है। तदनन्तर प्राप्त होता है शुद्धब्रह्मत्व अथवा परममुक्ति। इस स्थल पर यह याद रखना चाहिये कि कोई-कोई उत्तम जीव सत्संग के फल से श्रवणादि सम्पदभूत स्वतंत्र भक्तिद्वारा नित्य लीलाधाम में प्रवेश प्राप्त करते हैं। इनके लिये लीलाधाम प्रवेश ही मोक्ष है।

मुक्ति प्रतिबन्धक नीचभावेच्छा की विषयभूत स्थिति को आसुरत्व कहते हैं। आसुरत्व भाव वाले असद् भावना के वशीभूत होकर तादृश स्थूल देह प्राप्त करते हैं और निंदित कर्म में निरत रहते हैं। इन्हें सदासंसारी जीव कहा जाता है। इनकी अविद्या का नाश करने के लिये श्रीभगवान को स्वयं आना पड़ता है। श्री भगवान द्वारा नष्ट किये जाते ही इनका समस्त दोष नष्ट हो जाता है। ये पुनः शुद्ध जीव स्थिति में विहार करने लगते हैं। जब भगवान जड़-जीवात्मक प्रपंच में वैजात्य का नाश करने के लिये चित् तथा आनन्द का प्राकट्य करते हैं, उस स्थिति में पूर्वोक्त जीव समूह में इन २ अंशों का आविर्भाव होता है। इसके फल से समस्त प्रपंच भगवान में लीन हो जाता है। अब भगवान एकाकी होकर अक्षर एवं पुरुषोत्तमत्व में अभिन्न भाव से स्थित हो जाते हैं।

जीव

सात्त्विक	राजस	तामस
मुक्ति योग्य उत्तम व्यक्ति, साधक, पितृगण, १४ मनु, ८ बसु, ब्रह्मादि देवता, ऋषि गंधर्व आदि	(नित्य संसारी) मध्यम मनुष्य काम्य कर्मी	तमोगति योग्य अधम मनुष्य इनमें काल कालनेमि जरासन्ध, मधुकैटभ, शम्बर, वृत्र, त्रिपुर, कालकेय दानव परिगणित हैं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देह

स्वरूप देह	लिंग देह	कर्म देह
यह अनादि लिंगदेह द्वारा आवृत है	यह अनादि है	लिंग देह के बाहर है (भौतिक देह)

मुक्त जीवगण नाना स्थलों में विहार करते रहते हैं। जो परमदेव की उपासना करते रहते हैं, उन्हें यहीं मुक्ति मिल जाती है। उनका उत्क्रमण नहीं होता। कोई स्वर्ग से मुक्त होते हैं, कोई मर्त्यलोक, जनलोक, तपोलोकादि से मुक्त होते हैं। महाज्ञानीगण क्षीरसागर जाते हैं। वहाँ भी क्रम है। ज्ञान के तारतम्य से सामीप्य, सालोक्य, सारुप्यादि की प्राप्ति होती है। पृथ्वी से क्षीरसागर पर्यन्त इनकी व्यापकता है। मध्वाचार्य के अनुसार केवल मात्र ब्रह्मा को ही सायुज्यमुक्ति मिलती है। ब्रह्मा के सायुज्य का अर्थ है स्वविश्वरूप भगवद् आवेश। भगवान में ब्रह्मा का जो निरुपाधिक विश्व अवस्थित है, निरुपाधिक प्रतिविम्बरूप ब्रह्मा इस स्वकीय विश्व में स्वेच्छा से प्रवेश करते हैं। यह है आत्मविश्व में प्रवेश। इच्छा होने पर ब्रह्मा आत्मविश्व से पृथक् भी हो जाते हैं। अन्य मुक्त आत्माओं को सामीप्य अथवा सालोक्य प्राप्त होता है। सारुप्यता का अर्थ है – स्वविश्वरूप समानकाय की प्राप्ति। भगवान में प्रत्येक का नित्यस्वरूप देहविश्व विद्यमान है। जीव मुक्त होकर इसके समान आकार की प्राप्ति करते हैं। नूतन सृष्टिकाल में ये सभी मुक्तगण स्वेच्छानुसार वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, अनन्तासन, स्वर्ग से लेकर सत्यलोक पर्यन्त आविर्भूत होकर विचरण करने लगते हैं। इनमें नाना प्रकार के अप्राकृत दिव्य ज्ञानानन्द का प्रसार होता रहता है।

भगवान के आदेश का पालन करते हुये सिद्ध जीवन्मुक्तगण तथा ब्रह्मा कल्पान्त काल पर्यन्त सान्तनिक तथा अन्यलोकों में स्थित रहकर भगवद् सेवा करते हैं। सान्तनिक लोक जनलोक का ही प्रान्तर है। ब्रह्मकल्पान्त में सभी जीवन्मुक्त आत्मवर्ग ब्रह्मा के साथ वैकुण्ठ में चले जाते हैं। वे सभी वैकुण्ठ में जाकर भगवत् सेवा में तत्पर हो जाते हैं। इनकी पुनरावृत्ति समाप्त हो जाती है। जो स्वरूपदेह में राजस हैं तथा नित्यकाम्य कर्मी हैं, वे पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग में संचरण करते रहते हैं। यही उनकी मुक्ति है। यही उनका स्वरूप लाभ है। इनको गर्भवास अथवा मरण का संस्पर्श नहीं होता। उत्तम सायुज्य मुक्ति में जीव आत्मविम्बरूप विष्णु में प्रविष्ट होकर विष्णु के साथ आनन्द भोग करते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं। सायुज्य मुक्तगण सृष्टि तथा प्रलय काल में सदा भगवत् शरीर में ही अन्तर्लीन रहते हैं। अन्य प्रकार के मुक्त जीव प्रलय काल में अर्चिरादि मार्ग से मोक्षधाम में प्रविष्ट होते हैं तथा सृष्टि काल में पुनः स्वेच्छानुसार बहिर्गत हो जाते हैं।

जीव की गति व्यवस्था में ३ कारण प्रधान हैं—

(१) स्वभाव, स्वरूप, योग्यता तथा दृढ़निश्चय। यह गुण अनादि सिद्ध तथा सभी जीवों में नित्यरूप से विद्यमान है।

(२) अनादि पूर्व कर्म। कर्म ध्वंसशील होने पर भी प्रवाह में अनादि है।

(३) तात्कालिक प्रयत्न अथवा पौरुष।

प्रत्येक को स्वरूपदेह स्वभावतः प्राप्त है। सात्विक की स्वरूप देह ज्ञानानन्दमय, राजस का ज्ञानाज्ञान सुख-दुःख मिश्र, तामस का स्वरूपदेह दुःख एवं अज्ञानमय होता है।

स्वरूपदेह के समान अन्धतामिश्र नरक भी नित्य है। देवगण को नरक अथवा तम की प्राप्ति नहीं होती। असुरों को मुक्ति नहीं मिलती। असुरगण अन्धतामिश्र में निरत रहते हैं। मध्यम श्रेणीगत मनुष्य तमः तथा मुक्ति, दोनों से दूर रहते हैं। असुरगण स्वभावतः दोषयुक्त होते हैं। मनुष्य में गुण-दोष दोनों की सत्ता रहती है। देवगण में केवल गुण की ही स्थिति रहती है। देवगण में सम्यक् ज्ञान कार्यरत है, मनुष्यगण में मिश्र ज्ञान तथा दैत्यों में अज्ञान की सत्ता का संचार होता रहता है।

भगवान के उदर में अनन्त जीव निवास करते हैं। उसमें बद्ध जीव भी स्थित हैं। वहाँ संसारमुक्त आनन्दविग्रह रूप जीवों की सत्ता है। भगवान के उदरस्थ जीवों का प्रतिकल्प में मात्र १ बार देहपात होता है। सृष्टि काल में इन्हें कर्मानुरूप भौतिक देह की प्राप्ति होती है। पूर्वकल्पकृत कर्म के अनुसार भौतिक देह का गठन होता है। स्वरूप देह—अर्थात् जीवात्मा। यह विविध आकार युक्त होता है। मृत्यु काल में भौतिक स्थूल देह नष्ट होता है। तदनन्तर वासनायुक्त लिंगदेह कर्मानुसरण करते हुए नरक अथवा स्वर्गगामी होता है। नरक में यातनादेह द्वारा लिंगदेह आवरित हो जाता है। लिंगदेह के भग्न होने पर ही स्वरूपाभिव्यक्ति हो सकती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पंचचक्षु

दिव्य चक्षु, ज्ञान चक्षु, भाव चक्षु, प्रेम चक्षु, चर्म चक्षु रूप से पंचचक्षु विज्ञान साधक के लिए विशेषतया ज्ञातव्य है। गीता में "दिव्यम् ददामि ते चक्षुः" रूप से दिव्य चक्षु का ही उल्लेख मिलता है। दिव्य चक्षु से ईश्वर की विभूति का साक्षात्कार किया जाता है। भाव चक्षु से भाव का तथा भावमय रूप का दर्शन हो सकता है। जिस वस्तु को देखने के लिए जैसी स्थिति की आवश्यकता होती है, उस स्थिति के अभाव में उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। भावदेह का दर्शन दिव्य चक्षु नहीं करा सकते। इसी प्रकार धर्म चक्षु रूप से भी बौद्धदर्शन में एक स्थिति का अंकन है। यह सर्वप्रथम खुलता है। द्वितीय स्तर में दिव्य चक्षु का उन्मोचन होता है। इसके विकास के अनन्तर ज्ञान चक्षु, तदनन्तर प्रज्ञा चक्षु तथा सर्वान्त ये प्रेम चक्षु की स्थिति अनुभूत होने लगती है। प्रेम चक्षु खुलते ही अब कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता। यह वर्णन बौद्ध धारणा ग्रन्थों में अंकित है।

योगमत से धर्म चक्षु का तात्पर्य है आभ्यन्तरिक शक्ति प्रवाह। इसका अनुभव तथा प्रत्यक्ष धर्म चक्षु द्वारा होता है। यह शक्ति प्रवाह पुराणों में उत्तर वाहिनी गंगा के रूप में वर्णित है। धर्म चक्षु खुलते ही शरीर का समस्त शक्ति स्पन्द क्रमशः ऊर्ध्वोन्मुख हो जाता है। तभी अनुभव होता है कि यह प्रवाह अब ऊर्ध्वोत्थित हो रहा है। धर्म चक्षु खुलने के पश्चात् प्रज्ञा चक्षु भी खुलने लगता है। प्रज्ञा चक्षु खुलने की अवस्था में यह अभिज्ञता प्राप्त होती है कि वह ऊर्ध्वोत्थित प्रवाह अब अपने उत्सबिन्दु में समाहित होता जा रहा है। "दिव्यं ददामि ते चक्षु" रूप से गीता में जिस दिव्य चक्षु की ओर इंगित किया गया है, उसके खुलने के पश्चात् खण्ड दृश्य की सत्ता नहीं रहती। (खण्ड दृश्य अर्थात् घर, व्यक्ति, वस्तु, पुस्तक, वाहन, पशु-पक्षी इत्यादि)। दिव्य चक्षु खुलने पर दिव्य जगत् की अखण्ड सत्ता का, अनन्त कोटि देव–देवी का, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड विस्तार का दर्शन प्राप्त होता है। कोटि-कोटि नरक, चन्द्र सूर्य का अस्तित्व अनुभूत होने लगता है। भाव चक्षु से भावदेह प्राप्त सिद्ध की अखण्ड, अनन्त व्यापक भाव स्थिति का परिदर्शन किया जा सकता है। प्रेम चक्षु खुलते ही तत्क्षण प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। भाव चक्षु से भावरूप अखण्ड मूर्ति का प्रतिफलन होने लगता है। प्रेम चक्षु द्वारा अखण्ड प्रेमानन्द का दर्शन किया जा सकता है। जिसके भाव चक्षु का विकास हो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चुका है, उसे प्रेमभाव की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है (अर्थात् उसके प्रेमचक्षु भी खुलने लगते हैं)। भाव के अनन्तर है प्रेम और प्रेम के अनन्तर अनन्त रस का संधान मिलता है। प्रेम नेत्रों द्वारा प्रेम की अवस्था का अनुभव होने लगता है। प्रेमचक्षु का चरम फल है रस की प्राप्ति।

लीलातत्त्व

साधना का लक्ष्य दार्शनिक समुदाय ने दो भागों में विभाजित किया है। **प्रथम के अनुसार** अध्यात्म साधना का लक्ष्य मुक्तिरूप परम पुरुषार्थ है। यद्यपि धर्म, अर्थ तथा काम भी पुरुषार्थ हैं, तथापि इनकी सत्ता क्षणिक है, अतः इन्हें परमपुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता। मुक्ति स्थायित्व पूर्ण होने के कारण नित्य सिद्ध है। मुक्ति का अर्थ है आत्म साक्षात्कार। इसके द्वारा अनादि कालीन कर्म संस्कार तथा दुःख समुदाय की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, नित्य शान्ति के अथाह समुद्र में साधक संचरण करने लगता है। यह है आत्मा की स्वरूपभूत आनन्द दशा **द्वितीय धारा के अनुसार** मुक्ति ही परम पुरुषार्थ नहीं है। पराभक्ति ही परमलक्ष्यरूप परम पुरुषार्थ है। इसे पंचम पुरुषार्थ भी कहा जाता है। भक्ति का आदर्श मुक्ति से महान है। आत्मा एक और अभिन्न होने पर भी जीवात्म एवं परमात्म रूप से विलास करती रहती है। इसमें अनादि काल से चला आ रहा तथा अनादिकाल पर्यन्त स्थायी रहने वाला अंशांशी भाव भी विद्यमान रहता है। बृद्धावस्था तथा मुक्तावस्था, दोनों में ही अंशांशी भाव की विद्यमानता रहती है। जीवात्मा अंश है तथा परमात्मा अंशी। दोनों ही नित्य चैतन्य स्वरूप हैं। जीवात्मा का रूप अणुमय है, कारण वह अंश है। परमात्मा अंशी होने के कारण चैतन्य एवं महान् है। जीवात्मा अनादि अविद्या से आच्छन्न होकर अपने तथा परमात्मा के स्वरूप ज्ञान से रहित हो जाता है। ज्ञान प्रभाव से अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या का निवारण होते ही जीव को अपने स्वरूप

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथा परमात्म स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। उसे यह ज्ञात होता है कि परमात्मा के साथ उसका अपना नित्य सम्बन्ध है। तदनन्तर सम्बन्ध जनित रसास्वादन प्रारम्भ हो जाता। यही वह विन्दु है–जहां से परमुक्ति रूप पंचम पुरुषार्थ का उदय होता है। भक्ति ही पंचम पुरुषार्थ है। अतः वही परम प्राप्तव्य भी है। द्वैत दृष्टि से परमात्मा तथा जीवात्मा में भेद है, तथापि दोनों ही विभु हैं। अद्वैत दृष्टि से ईश्वर तथा जीव की एक ही सत्ता है। स्वरूप का उदय न होने के कारण ईश्वर तथा जीव की पृथक् उपाधि का व्यवहार चलता रहता है। अविद्यावरण की निवृत्ति के उपरान्त एक अखण्ड आत्मा ही प्रकाश से उद्भासित होती शेष रह जाती है। इस स्थिति में यह ज्ञात होता है कि ईश्वर तथा जीव, यथार्थ विभाग नहीं है। केवल मात्र उपाधि है।

सामान्यतः भक्तिवादी आचार्यगण ने द्वैतदृष्टि का ही वरण किया है। भक्ति वादियों की दृष्टि में मोक्ष उपेक्षणीय तथा पराभक्ति परमसम्पत्तिरूप एवं वरणीय है। जीव तथा ईश्वर, भक्त एवं भगवान के मध्य पारस्परिक भेद की स्थिति रहना आवश्यक है। अन्यथा भक्ति कैसे होगी ? सेव्य-सेवक भाव ही भक्ति का आस्वाद रस है। अद्वैत सत्ता में भावगत द्वैत का अभाव रहने के कारण, वहां सेव्य-सेवक भाव की भित्ति ही निर्मित नहीं होती। यही कारण है कि भक्तगण अद्वैत का वरण नहीं करते तथा पराभक्ति रूप रस को ही श्रेष्ठ लक्ष्य मानते हैं। सामान्य भक्ति ज्ञान का साधन मात्र है, परन्तु पराभक्ति मुक्त पुरुष के लिए भी परम प्राप्तव्य है। पराभक्ति की प्राप्ति सामान्यतः मुक्ति के अनन्तर होती है। कोई भाग्यवान साधक इसी जीवन में पराभक्ति प्राप्त करते हैं। यह प्राप्ति भगवत् कृपा से ही हो सकती है। पराभक्ति की प्राप्ति ही परममुक्ति की प्राप्ति है। भक्तिमार्गी आचार्य कैवल्य मुक्ति को परामुक्ति नहीं मानते। उनके दृष्टिकोणानुसार कैवल्य मुक्ति अपरामुक्ति मात्र है।

साधारणतः शुष्कज्ञानीजन भक्ति को ज्ञान के उपाय के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं, तथापि इनके मतानुसार भक्ति एक प्रकार की मानसिक वृत्ति ही है। शुष्कज्ञानीजन का कथन है कि ज्ञानाविर्भाव के प्रकाश में भक्ति तिरोहित हो जाती है। कारण द्वैतनिवृत्ति के समय एकत्वपूर्ण अवस्था में द्वैतमूलरूप भक्ति के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत सामान्य भक्तजन मायाश्रित होने के कारण माया की निवृत्ति से भयभीत रहते हैं। कारण यह है कि माया की निवृत्ति का फल है द्वैतज्ञान निवृत्ति। भक्तों को यह भय हो जाता है कि द्वैतज्ञान निवृत्ति के कारण द्वैत पर आधारित भक्ति का ही उच्छेद न हो जाये। इसी कारण भक्तजन ज्ञान को नीम के फल के सदृश कडुआ मानते हैं। इससे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानमार्ग में भक्ति का महत्व गौण है। इसी प्रकार भक्ति मार्ग में ज्ञान का कोई महत्व ही नहीं है। यह एक प्रकार से उचित न होने पर भी उचित सा प्रतीत होता है। भक्ति साधना का उद्देश्य क्या है? भक्ति साधन का चरम उद्देश्य है भगवान की नित्य लीला में प्रविष्ट होकर नित्य सिद्ध भूमि में स्थित होना और भगवान की नित्य सेवा में तत्पर हो जाना। मायिक जगत में रहकर इस प्रकार की सेवा नहीं की जा सकती। इसका रहस्य यह है कि मायिक स्थिति में भगवान का शुद्ध स्वरूप अप्रकाशित रहता है। भगवान का शुद्ध स्वरूप प्रकाशित न होने के कारण भगवद्धाम, भगवद् परिकर, लीला, भगवद्गुण, तत्जन्य क्रिया आदि का भी प्राकट्य नहीं होता। प्राकृत मायिक दृष्टि का तिरोधान होने पर ही इन सब का आविर्भाव होता है। अतः नित्यलीला में प्रवेश प्राप्त करने के लिये भक्त अपनी सत्ता को शोधित करते-करते चिदानन्दरस से सराबोर कर लेते हैं। भावशोधन, प्रेमशोधन तथा रस प्राप्ति के क्षण में ही भक्तगण स्वरूप सिद्ध हो जाते हैं। यही सिद्ध रसमय शरीर की प्राप्ति का रहस्य है। यह रसमय सिद्ध शरीर विशुद्ध शोधित तत्वों से निर्मित है। निर्मल चैतन्य से सतत् उद्भासित है। यही शरीर लीला सहचर बनता है। पराभक्ति अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति की साधना ही नित्यलीला प्रवेश साधना कही जाती है।

लीलापथ ही भावपथ है। भावपथ मायातीत तथा त्रिगुणातीत कहा जाता है। प्रथमदृष्ट्या यह सत्य प्रतीत होता है कि लीला में अनन्त वैचित्र्य का सत्वान प्राप्त होने के कारण, उसमें द्वैतभाव का आधार दृष्टिगोचर होता रहता है। इतने पर भी यह चरम सत्य नहीं है। पूर्णसत्य सर्वभावातीत तथा परम साम्यमय कहा गया है। पूर्णसत्य आयत्त होते ही स्वातंत्र्य का विकास होने से संकुचन का तिरोधान होने लगता है। अतः इस परम स्थिति के अनन्तर साधक जिस किसी भाव पर आरूढ़ हो क्रीड़ा करता रहता है तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त स्थापित होता है कि अद्वैतावस्था के पश्चातकाल में भी लीलास्वादन संभव है। अर्थात् लीलातीत परमसाक्षी भाव में स्थिति प्राप्त हो जाने पर भी साधक लीलामयरूप में स्फुरित हो रहा है।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डाकिनी तत्त्व

दिवाकाल में भी डाकिनी, डाईन आदि का नाम सुनकर शरीर में रोमांच हो जाना स्वाभाविक है। यदि रात्रि के अन्धकार में मन का भ्रमपूर्ण संस्कार डाईन के रूप में साकार हो उठे, तब की स्थिति और भी रोमांचक हो जाती है। सदियों से इनका उल्लेख कथानकों में होता आया है। वास्तव में डाईन शब्द डाकिनी का ही अपभ्रंश है। लोकोक्ति है कि डाइने भयानक होती हैं। उनके मुख से अग्नि स्फुलिंग निर्गत होता रहता है। इनकी दन्तपंक्ति तो और भी भयानक होती है। ये मनुष्य का रक्त पान करती हैं। अन्वेषकों के अनुसार एवं लोकोक्तियों के मूल में सत्य का आधार अवश्य रहता है। नेपाल दरबार में संरक्षित जयद्रथयामल तंत्र में कुछ ऐसे ही तथ्य अंकित है। यह प्रति ८ वीं सदी ईस्वी की प्रतिलिपि के रूप में है। अतः मूल ग्रन्थ का काल ८ वीं सदी ईस्वी से भी पूर्वकाल का प्रतीत होता है। इस तंत्र ग्रन्थ का सम्बन्ध महाभारत कालीन राजा जयद्रथ से सिद्ध होता है। इस प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार डाकिनी प्रचण्ड अग्निमण्डल से आवेष्ठित है। इसका आसन मनुष्य चर्मावृत है। मनुष्य की त्वचा ही इसका वस्त्र है। यह वाम हस्त में मनुष्य का सद्यःच्छेदित शिर धारण कर उसके मस्तिष्क को चबाती रहती है। इस शिर से टपक रहा रक्त ही डाकिनी का सुस्वादु पेय है। इसका रुप घटाटोप के समान कृष्णवर्णात्मक है। विकराल चमक रही दंतपक्ति के कारण इसका स्वरुप और भी भयानक हो उठा है। जयद्रथयामल के इस वर्णन में तथा दन्त कथाओं में वर्णित डाईन के रुप में अद्‌भुद साम्य प्रकट होता है। अतः डाकिनी एवं डाईन, दोनों समानार्थक शब्द सिद्ध हो जाते हैं।

डाकिनी से सम्बन्धित विविध मान्यताएँ तिब्बत तथा मंगोलिया में भी प्रचलित रही हैं। तिब्बती साधक समुदाय डाकिनी को "मांचिग लवडोन" कहता है। यह धर्मकाय स्वरुपा, अनिर्मिता, अत्याज्य, सहजसिद्धि रुपा, सहाआनन्दराज्ञी तथा महाविद्यारुप से पूजिता है। त्सोद साधना के अन्तर्गत साधक डाकिनी के सम्मुख आत्मोत्सर्ग के लिये भी प्रस्तुत रहता है। तांत्रिक बौद्ध साहित्य में डाकिनी के अनेक प्रभेद अंकित है। काय डाकिनी क्षेत्र स्वरुपा है। शरीर ही क्षेत्र है। इसी में साधना बीज का वपन होता है। इसकी अधिष्ठातृ ही काय-डाकिनी है। मन्त्ररुपित अवस्था में वाक्‌डाकिनी का आविर्भाव होता है। वाक् की मन्त्ररुपिता की अधिष्ठातृ वाक्‌डाकिनी रुप से विराजित रहती है। चित्त,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपनी एकाग्रावस्था में सहज ज्ञान का कारण बन जाता है। इस कारण चित्ताधिष्ठातृ देवी ही चित्त डाकिनी है। वज्रज्ञान युक्त साधक ही वज्रडाकिनी शक्ति को धारण कर सकता है। वज्र डाकिनी का स्वरूप त्रिनेत्र युक्त है। त्रिनेत्र शब्द अन्तर्भेदी ज्ञान का तात्पर्य वहन करता है। शब्द ही साधक का त्रिकाय रूप त्रिनेत्र भी है। वज्रडाकिनी का तैजस स्वरूप साधक की जाग्रत प्रज्ञा की ओर ईंगित करता है। वज्र डाकिनी अपने त्रिकायरूप त्रिनेत्र से आकाश को देखा करती है। आकाश शून्य रूप है। अतः आकाश को लक्ष्य करना ही प्रज्ञा की शून्योपलाब्धिरूप चरम परिणति है। वज्र डाकिनी के दक्षिण कर में स्थिति डमरू आनन्दातीतावस्था का द्योतक ही वामकरस्य घन्टा प्रपंन्च से मुक्ति का निनाद करता है। वज्र डाकिनी की नृत्यमुद्रा सर्वप्राणिसमूह के लिये सद्योदित आनन्द की परिचायिका है। बौद्धतन्त्रों में ज्ञान डाकिनी तथा अक्षोभ्य बुद्ध की प्रज्ञारूपा बुद्ध डाकिनी का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

वज्रयानियों के अनुसार डाक शब्द प्रज्ञा वाचक है। हेवज्रतन्त्र में उक्त है कि धर्मधातु में निष्ठा रखने वालों की सत्प्रवृत्ति ही डाकिनी है। यह श्मशान में, अर्थात् धर्मधातुरुप नैरात्म्यावस्था के वक्षस्थल पर उद्दाम नृत्य करती रहती है। डाकिनी "उ" कार रूपा है। उकार स्वर स्थायी स्थिति का द्योतक है। समस्त जगत् सत्ता 'स्थिति" अवस्था में ही प्रकाशित होती है। अतएव डाकिनी का आश्रय ग्रहण करने से अविचलित स्थिति प्राप्त होती है। महासिद्ध जालंधरनाथ ने श्मशानध्यान में निरत रहकर डाकिनीसमूह द्वारा अभिषेकानन्द का आस्वादन किया था। इसी अभिषेक के कारण जालंधर महामुद्रासिद्धि प्राप्त कर सके थे। बौद्धतंत्रों के अनुरूप शाक्ततंत्रो में भी डाकिनी का वर्णन मिलता है। महाविद्या छिन्नमस्ता के एक पार्श्व में डाकिनी विराजित है। यह देवी हृदय के अत्यन्त समीप खड़ी है। इसका स्वरूप घोर कृष्णवर्णयुक्त है। महाविद्या छिन्नमस्ता अपने सद्यः काटे गये कठ से निकल रही रक्तधारा को डाकिनी के मुख में जाने दे रही है। देवी की यह रक्तधारा,—उनके स्नेह तथा कृपा का आभासन कराती है। अतः रक्तधारा पान द्वारा डाकिनी देवीछिन्नमस्ता की कृपा का उन्मुक्त पान कर रही है। यह दिगम्बरा है। दिशायें ही इसके वस्त्र हैं। यही डाकिनी की व्यापकता है। डाकिनी विकटदशना है। दांत कर्म की घोरता के कर्त्तक हैं। डाकिनी की चमकती आँखें तथा लोलजिह्वा तृष्णातुर के लिये चेतावनी रूप है। प्रलयकालीन घटाटोप के समान कृष्णवर्णता अद्वय स्थिति का रूप है। घोरतर अंधकार में, जहां कुछ भी नहीं दीखता, वहाँ व्यक्ति को मात्र अपने अस्तित्व का ही भान होता है। बहिर्मुख वृत्ति वालों के लिये यह घोर एवं भयंकरी है। अन्तर्मुख वृत्ति वालों के लिये यही डाकिनी शक्ति अभयंकरीरूप हो जाती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डाकिनी की यह समुन्नत स्थिति कलांतर में मनुष्य की धारणाशक्ति में न्यूनता का संचार हो जाने के कारण डाईन के रूप में परिणत हो गयी। डाकिनी की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में निहित उच्चतम आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विचार-का सर्वनाश करके उसे डाईन का रूप दे देने में, हिन्दुओं और बौद्धों के मध्य का संघर्ष मुख्य कारण है। एक की साम्प्रदायिक उच्चता की प्रवृत्ति, अन्य के देवी देवताओं को नीचा सिद्ध करने में अपने कर्त्तव्य की इतिःश्री मानने लगी। बौद्धों ने हिन्दुओं के ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा इन्द्र को शैतानरूपी "मार" की श्रेणी में प्रतिष्ठापित कर दिया। नारायण तक एक बौद्ध देवता के वाहन रूप में प्रदर्शित किये गये। बौद्धों के विघ्नान्तक ने पौराणिक देव गणेश को पैरों तले कुचला ! ब्रह्मा की सर्वाधिक दुर्दशा की गयी। ब्रह्मा के शिर बौद्ध देवताओं के हाथ की शोभा बने ! संवर मण्डल में बौद्ध देवता पौराणिक भैरव तथा कालरात्रि के वक्षस्थल पर आसीन हैं ! बौद्ध योगाम्बर मण्डल में सभी पौराणिक देवी-देवता द्वारपाल बने खड़े हैं ! इनकी प्रतिक्रिया हिन्दु समाज पर होनी आवश्यक थी और यही कारण है कि डाकिनी महाशक्ति का क्रमशः डाईन, चुड़ैल के रूप में अत्यन्त कुत्सित रूपान्तरण किया गया !

जयद्रथयामल के तृतीय शतक में डाकिनी पूजक "लामावर्ग" का उल्लेख मिलता है। यह लामावर्ग तिब्बत के लामा (BLAMA) सम्प्रदाय से अलग सम्प्रदायान्तर्गत परिगणित होते हैं। लामावर्ग में तंत्रदीक्षा महिलाओं को ही प्राप्त होती थी। सम्मोहन तंत्र में इस सम्प्रदाय को "लामाम्नाय" कहा गया है। हेवज्र-तंत्र ने "डाकिनी तु तथा लामा खण्डारोहा तु रूपिणी" श्लोक द्वारा लामा सम्प्रदाय का स्मरण किया है। विद्वान अध्यापक वैडेल ने अपनी ख्यातनामा पुस्तक "लामाईज्म" में भी महिला तांत्रिकवर्ग लामावर्ग का प्रमुख वर्णन किया है। लामा साधिकायें दुर्लभ काश्यपीय वर्ग में रूपिका तथा कुम्बिका नाम से भी प्रख्यात थीं :–

"दुर्लभा काश्यपीवर्गे पंञ्चामृतविवर्धिता।
रूपिका कुम्बिका लामा पराव्रत पालिका॥

पश्चिम तिब्बत में लामावर्गीय साधिकायें सुन्दर शरीधारिणी तथा भयानक मुद्रायुक्त, उभय प्रकार की होती है। इनका कार्य है आसुरी शक्ति का विनाश करना। इनका सम्प्रदाय सुदूरभूत काल में किन्नोर प्रदेश पर्यन्त विचरण करता रहता था। इनकी विचित्र भाषा को जयद्रथ यामल में एकाक्षरसमुल्लाप युक्त कहा गया है। इन लामा साधिकाओं के २४ अवान्तर भेद भी विद्यमान थे, यथा—योगिनी, रूपिणी, साकिनी, नलिनी, पेशिनी, देहिनी आदि। इसी प्रकार तिब्बत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में डाकिनी पूजक रहस्यमय बोन सम्प्रदाय का भी अस्तित्व था। इसका मुख्य केन्द्र तिब्बतस्थ "शङ्ग-शुङ्ग प्रदेश" था। मंगोलिया, यरकान आदि अंचलों में भी बोन साधक संचरण करते रहते थे। इस परम्परा के प्रवर्त्तक का नाम है "मेफो शेन रब मुनि"। यह सम्प्रदाय रसायन विद्या का भी ज्ञाता था। इसका विपुल साहित्य आज भी तिब्बत में विद्यमान है।

गायत्री

हमारे देश में गायत्री वेदमाता मानी जाती है तथा चिरकाल से पूजिता हैं। गायत्री से ही ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है। गायत्री मंत्र के ऋषि विश्वमित्र हैं। उन्होने इसी के प्रभाव से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। गायत्री कामधेनुस्वरूपा है। इसका लक्ष्य है सविता (सूर्य)। वेद के अनुसार सूर्य सर्वजगत् के आत्मरूप हैं। सूर्य द्वारा ही समस्त स्थावर एवं जंगम जगत् का निर्माण किया गया है। इस मंत्र के अनेक अवान्तर भाग होते हैं। प्रथम है प्रणव अथवा ॐकार। तदनन्तर भूर्भुवः स्वः रूप महाव्याहृति। इसके पश्चात् त्रिपदागायत्री के २४ अक्षरों की विद्यमानता दृष्टिगोचर होती है। तत्पश्चात् गायत्री का शिर प्रदेश अवस्थित है।

गायत्री मंत्र का प्रथम भाग प्रणव शब्दब्रह्मरूप कहा गया है। यह विश्वसृष्टि का मूल है। इसके पश्चात् व्याहृतिरूप "भूर्भव: स्व:" की स्थिति है, जो विस्तार के कारण सप्तव्याहृति का रूप धारण करती है। स्व: दो भागों में विभक्त है। एक है निम्न स्व:, दूसरा है उर्ध्व स्तरीय स्व:। निम्न स्व: अर्थात् इन्द्रलोक। इस स्वर्ग में विभिन्न आत्माये आनंद का उपभोग करते हैं। सुकृत का फल है स्वर्ग। उर्ध्वस्वर्ग महः, जन, तपः तथा सत्यलोक रूप से चतुर्विध है। पितृयान गति के कारण निम्नस्वर्गों में गति होती है। ज्ञान एवं कर्म समुच्चय द्वारा, ज्ञानसंस्रव के प्रभाव से उर्ध्वगति प्राप्त होने पर, उर्ध्वस्थ स्वर्ग में स्थान प्राप्त होता है भूलोक से सत्यलोक पर्यन्त की व्याप्ति का नाम है विश्व। इन स्वर्गों की परिणति सत्यलोक में पूर्ण होती है। स्वर्ग से नीचे तथा भूलोक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के ऊपर अन्तरिक्ष की सत्ता है। इसे ही भुवलोक कहा जाता है। भुवर्लोक में ग्रह नक्षत्रादि संचरण करते रहते हैं। भूलोक में भी अनेक विभाग किये जा सकते हैं। सर्वप्रथम पृथ्वीरूप भूपृष्ठ है। भूपृष्ठ में सप्तद्वीप तथा समुद्रों की सत्ता विद्यमान रहती है। भारतवर्ष जम्बूद्वीपान्तर्गत कहा जाता है। पृथ्वी के नीचे अधोलोकों की विद्यमानता है। अधोलोकों में सप्तपाताल का क्रम है। सप्तपाताल के नीचे नरक विराजित है। नरकों की संख्या अगणित है। उन्हें तीन स्तरों में बांटा गया है। सर्वनिम्नस्तर में जो नरक है, वहाँ किसी प्रकार का भी आलोक प्रवेश नहीं करता। इसका नाम है, अवीचि। इसी विस्तार को अर्थात् सप्तलोकों से लेकर अवीचि पर्यन्त के विस्तार का नाम है ब्रह्माण्ड। ब्रह्मलोक (सत्यलोक) ज्योतिरूप है। अवीचि अन्धकार पूर्ण सत्ता है। अवीचि तथा ब्रह्मलोक के मध्य, जितने भी अवान्तर लोक विद्यमान हैं, वहाँ प्रकाश तथा अन्धकार का तारतम्य के अनुसार मिश्रण ही कार्यरत रहता है।

इस समग्र विश्व की सृष्टि ओंकार से होती है। गायत्री के तीन भाग हैं। ब्रह्म गायत्री भी त्रिधा विभक्त है। देव गायत्री के भी तीन भाग हैं। यह सविता रूप होने के कारण परमात्मरूप है। इसकी अनन्त शक्ति को भर्ग संज्ञा से जाना जाता है। भर्ग शक्ति समूह में भी जो सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, उसे वरेण्य शक्ति कहा गया है। यही वरेण्य शक्ति, ब्रह्मज्ञानरूप महाशक्ति है। यह भर्ग शक्ति है, अर्थात् यह शक्ति जीव की कर्मराशि का का भर्जन करती है, दग्धीकरण करती है। उपासक इसी महाशक्ति की सतत् उपासना करते रहते हैं। जिस केन्द्र से इस शक्ति का आविर्भाव होता है, उस केन्द्र की उपासना कर सकना संभव नहीं है। अतः इसी शक्ति की ध्यानरूपा उपासना की जाती है। सवित्र् शक्ति की उपासना के द्वारा ही, हम शक्ति केन्द्र का स्वरूप हृदयंगम करने में समर्थ होते हैं। ध्यान के प्रभाव से साधक के हृदय में यह तेजोमयी महादेवी प्रकाशित हो उठती है। हृदय देवता की प्रतिष्ठापना के अनन्तर भक्त के अन्तस् में ज्ञान तथा कर्म क्षेत्रगत प्रेरणा का आविर्भाव होने लगता है। सत्यज्ञान तथा शुभ कर्मगत् प्रेरणा का स्त्रोत उन्मुक्त होने पर इसका फल समष्टिगत रुप धारण करने लगता है। इसी कारण "धीमही" रुप बहुवचन का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि "साधक के इस उपासना रुप कर्म द्वारा जीवमात्र का उपकार साधित हो।" गायत्री का चतुर्थ पाद अत्यन्त गुप्त है। सन्यासी के अतिरिक्त चतुर्थ पाद के उच्चारण का अधिकार किसी को नहीं है। भास्करराय ने वरिवस्या-रहस्य ग्रन्थ में इस विषय का विस्तृत वर्णन किया है।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

राजयोग

आसन सिद्ध होने के अनन्तर प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम्–अर्थात् प्राणनियंत्रण। मनुष्य की जीवितावस्था में प्राणशक्ति तथा मनःशक्ति निरन्तर कार्यरत रहती है। इन शक्तियों के मध्य एक तारतम्य की स्थिति विद्यमान रहती है। इसी कारण प्राण की चंचलता से मन चाञ्चल्य का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार मन की चंचलता से प्राण चांञ्चल्य का अनुभव होने लगता है। प्राण को नियंत्रित करना आवश्यक है। आसन की सिद्धि होने के पश्चात् दीर्घकाल पर्यन्त एकासन पर बैठें रहने के उपरान्त भी साधक को कोई असुविधा नहीं होती। दीर्घकाल तक शरीर कम्प भी नहीं होता। शरीर में लघुता (हल्कापन) का संचार होने लगता है। आसन सिद्ध होने के उपरान्त प्राण की क्रिया स्वभावतः शान्त होने लगती है। शरीर में इस योग्यता का प्रादुर्भाव होने के पश्चात् गुरुगण शिष्य को प्राणायाम का शिक्षण प्रदान करते हैं। यहाँ एक रहस्य विवेचनीय है। मनुष्य की सत्ता में सर्वापेक्षा वाह्य स्थिति में देह की विद्यमानता एक निर्विवाद तथ्य है। देह में सर्वप्रथम प्राण की क्रिया तदनन्तर मन क्रिया का ज्ञान होता है। तदनन्तर बुद्धि का स्थान है। देहाभिमान की स्थिति में आसनाभ्यास अत्यावश्यक है। इसी के अनन्तर प्राणाभ्यास सिद्ध हो सकेगा। प्राणायाम सिद्ध होने पर उसकी क्रिया का प्रभाव इन्द्रिय तथा मन पर पड़ने लगता है। इसे प्रत्याहार की अवस्था कहते हैं। प्रत्याहार सिद्ध होते हो बाह्य जगत् से विच्छिन्नता का उदय होता है। प्रत्याहारावस्था में बाह्येन्द्रियाँ ही अन्तर्मुखीन हो जाती हैं, परिणामतः बाह्यजगदावेश की समाप्ति हो जाती है। यही है, अन्तर्जगत् में प्रवेश।

अन्तर्जगत् की साधना ध्यान, धारणा, समाधि का अभ्यास है। प्रत्याहार की स्थिति में बाह्यजगत ज्ञान न रहने पर भी मनः संस्कार कार्य करता रहता है। मनःसिद्धि ही धारणा सिद्धि है। मनः सिद्धि के अनन्तर ध्यानोदय अवश्यम्भावी है। ध्यान के प्रभाव से मन अभीष्ट विषय के साथ आविष्ट हो जाता है। उनमें प्रवाह नहीं रहता। यही समाधि है। सर्वप्रथम समाधि का विषय है बाह्य स्थूल आवरण का उच्छेद, तदनन्तर सूक्ष्म बाह्य आवरण का नाश होता है। प्रथम को वितर्क समाधि तथा द्वितीय स्थिति को विचार समाधि कहते हैं। वितर्क के अन्तर्गत सवितर्क एवं निर्वितर्क तथा विचार के अन्तर्गत सविचार एवं निर्विचार अवस्था का उदय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता है। समाधि का परिणाम है प्रज्ञा का उदय। प्रज्ञा ही समाधि जनित ज्ञान कहलाती है। प्रज्ञा के उदय के अनन्तर, इस प्रज्ञा को शुद्ध तथा निर्मल करना चाहिए। प्रज्ञा रूपी ज्ञान का मल है, वितर्क। सवितर्क–सविकल्प स्थिति से निर्विकल्प स्थिति में उन्नीत हो जाने से प्रज्ञा शुद्ध हो जाती है। वितर्क भूमि में शब्द और ज्ञान का मिश्रण हो जाता है। यह सांकर्य किस प्रकार का है? यह साङ्कर्य वैसा ही है, जैसे शब्द तथा अर्थ का मिश्रण होता है। जैसे शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध है, उसी प्रकार ज्ञान के साथ भी अर्थ का सम्बन्ध होता है। अतः इस स्थिति से आच्छन्न समाधि को सविकल्प समाधि कहते हैं। शब्द संस्कार का उच्छेद होने के पश्चात् ज्ञान में निर्मलता आ जाती है। इस स्थिति में बाह्य जागतिक विषयगत समाधि का पूर्ण उच्छेद हो जाता है।

इस अवस्था में करण वर्ग पर आधारित समाधि का उदय होता है। तदनन्तर ग्रहीता समाधि का स्थान है। इसके पश्चात् और उर्ध्व स्थिति में अस्मिता समाधि का अनुभव होता है। अस्मिता समाधि अवस्था सविकल्प समाधि की चरमावस्था है। यहीं सविकल्प की सीमा समाप्त हो जाती है। सविकल्प की अस्मिता अवस्था में समस्त विश्व का ज्ञान अधिगत हो जाने पर भी साधक आत्मसाक्षात्कार रहित रहता है। उसमें विवेक ख्याति का उदय नहीं होता। परवैराग्य का आस्वादन नहीं मिलता। अब जो साधक कैवल्य की ओर अग्रसर होते हैं, उन्हें परवैराग्य का वरण करना चाहिए। विषय से वैराग्य निम्नस्तरीय वैराग्य कहा गया है। परवैराग्य का तात्पर्य है, प्रकृति से वैराग्य। इसी स्थिति में विवेकख्याति की अभिव्यक्ति होने लगती है। क्रमशः आत्मसाक्षात्कार की स्थिति भी हो जाती है। इसी बिन्दु पर गुण मयी प्रकृति का भी साक्षात्कार होता है। गुणमयी प्रकृति का साक्षात्कार होने पर भी, साधक प्रकृति के प्रति वैराग्य भावना से ओतप्रोत सा ही रहता है। कारण स्वात्मा का स्वरूप अपरिणामी है। गुणमयी प्रकृति सतत परिणामशीला है। अतः क्रमशः आत्मस्वरूपस्थ होते जाने के कारण, प्रकृति से (उसी तारतम्य में) मुक्ति मिलती जाती है। यह है राजयोग का साधन क्रम। प्रसंग में एक रहस्य का उद्घाटन आवश्यक है। विवेक ज्ञान तथा विवेकज ज्ञान में स्वरूपगत पार्थक्य विद्यमान है। विवेक ज्ञान द्वारा प्रकृति तथा पुरुष के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। विवेकज ज्ञान अति श्रेष्ठ विभूति स्वरूप कहा गया है। यह ज्ञान की अपेक्षा अत्युच्च ज्ञान है। क्षण एवं क्षणक्रम रूपी प्रवाह का संयम करने पर विवेकज ज्ञान आविर्भूत होता है। इसी के एकांश को तारक ज्ञान भी कहा जाता है। तारक ज्ञान समस्त विषयों में, सर्वप्रकार की अवस्था में क्रमहीन ज्ञान है। सर्वज्ञता भी तारक ज्ञान का एक अंश है। यह विवेकज ज्ञान जनित स्थिति है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राणायाम के तीन अंग–पूरक, रेचक तथा कुंभक कहे जाते हैं। इसी प्रकार वायु की भी दो अवस्था है। स्थिर स्तम्भित तथा स्पन्दनशील। वायु क्रियाकाल में भीतर से बाहर की ओर जाती है। पुनः बाहर से भीतर की ओर आती है। स्तम्भित अवस्था में, जब वह भीतर स्तम्भित रहती है तब उसे अन्तःकुम्भक कहते हैं। जब बाहर निकल जाती है, और इसी स्थिति में कुंभक होता है, तब उसे बाह्य कुम्भक कहा जाता है। अन्तः कुम्भक को पूरकान्त कुंभक तथा बाह्य कुंभक को रेचकान्त कुंभक कहते हैं। प्राणायाम की भी मात्रा होती है। शिष्य की योग्यता के आधार पर गुरुगण प्राणायाम की मात्रा का निर्धारण करते हैं। १–४–२ ही सर्वप्रचलित अनुपात कहा जाता है। अर्थात् श्वास-प्रश्वास की ४ गुना मात्रा स्थिति भीतर हो तथा द्विगुणित रेचक में हो। इस सम्बन्ध में अपने-अपने गुरु के आदेशानुसार प्राणायाम की मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वायु की त्रिविध गति कही गयी है। बाह्य गति, आभ्यन्तरी गति तथा उर्ध्वगति। एक उर्ध्वगति अत्यन्त रहस्यमयी है। वह उर्ध्वगति है हृदय (भौतिक हृदय नहीं) से उर्ध्वगति। इस गति द्वारा चिदाकाश संश्रय प्राप्त होता है। हृदय से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त ३६ अंगुल प्राणगति होती है। योगी के लिए इस गति का अनुशीलन करना आवश्यक धर्म है। प्राणायाम की क्रिया अपने मन से नहीं करना चाहिये। किंचित व्यतिक्रम भी रोग का उदय करता है। प्रत्याहार के उपरान्त की स्थिति, अर्थात् धारणा ध्यान तथा समाधि की स्थिति को अन्तरंग योग कहते हैं। यही श्रेष्ठ योग है।

पूरक—बाह्य वायु को श्वास द्वारा अन्दर ले जाना।

रेंचक—पूरक द्वारा गृहीत वायु को श्वास द्वारा बाहर लाना।

कुंभक—वायु ग्रहण प्रक्रिया को स्तम्भित रखना।

सम्यक् प्राणायाम क्रिया से मलिनता दुर होती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भेदाभेद

शंकराचार्य ने अद्वैत स्थिति की पराकाष्ठा में एक श्लोक रचा था—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः न क्वचन समुद्रो हि तारंङ्गः ॥"

साधनभक्ति ज्ञान के पूर्व उदित होती है। अतः "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते" की उक्ति सत्य है। पराभक्ति अद्वैत ज्ञान की पूर्ण परिपक्वता का फल है। यह अद्वैत ज्ञान के फल से किसी भाग्यवान के हृदय से उद्रिक्त होती है। शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञान के द्वारा सर्वप्रकार से भेद का उन्मूलन होने के पश्चात् सब कुछ अभेद रूप से, एक रूप से प्रतिभात होने लगता है। अतः यही अवस्था यथार्थ अभेद अवस्था है, किन्तु भेदावसान के कारण अद्वैत स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर भी भक्ति का लोप नहीं होता। नदी की तरंग तथा जल एक है। दोनों ही जल रूप है, तथापि मनुष्य व्यवहार जगत में उसका उल्लेख पृथक् रूप से करता है। इसी प्रकार जीव भगवान से स्वरूपगत एकत्वप्राप्ति के अनन्तर भी एक नहीं है। भगवान तथा भक्त की आत्मा, दोनों एक हैं तथापि भगवान है आश्रय तथा भक्त है आश्रित। अतः गीता में उक्त है "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति", इसके अनन्तर, अर्थात् इस स्थिति के अनन्तर भक्ति प्राप्ति का वर्णन किया गया है— "मद्भक्तिं लभते पराम्"। ब्रह्मीभूतावस्था के पश्चात् ही भक्ति का चरम लक्ष्य परिलक्षित होता है।

आत्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान होने पर भी "मद्भक्तिं लभते पराम्" वाक्य के प्रयोग पर विचार करने से यह अभिज्ञता प्राप्त होती है कि पराभक्ति का लाभ अद्वैत सिद्धि के अनन्तर होता है। अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति के बिना पराभक्ति नहीं मिलती। कोई-कोई महाभाग्यवान साधक अद्वैत सिद्धि के अनन्तर महाकृपा द्वारा पराभक्ति का रस प्राप्त करते हैं। शुष्क ज्ञानियों को भक्ति का रस नहीं मिलता। अद्वैत सिद्ध ज्ञानीजन पराभक्ति की अवस्था में भगवान के साथ एक होकर उनकी महिमा का निरन्तर अनुभव करते रहते हैं। वास्तव में स्वरूप एक है। इसी एक का नाम अद्वैत है। इतने पर भी एक की महिमा अनन्त है, और अन्य उसी का अंशभूत है। इसी कारण भगवद्भक्त ज्ञान के द्वारा भगवान से अभिन्नता का अनुभव करते रहने पर भी, यह भली प्रकार जानते रहते हैं कि उन्हें यह अद्वैत ज्ञान भगवान की ही कृपा से मिला है। इसी कारण वे मुक्तावस्था प्राप्त करने पर भी अनन्तकाल पर्यन्त भगवद् महिमा का वर्णन करते रहने के लिए बाध्य हो जाते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं। यह भक्ति है ज्ञानोत्तरा भक्ति। ज्ञान के पूर्व जिस भक्ति का उदय होता है, वह ज्ञान में ही पर्यवसित हो जाती है। वह पराभक्ति नहीं है। इस भक्ति का लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति। ज्ञानोत्तरा भक्ति आत्मा को अनन्तकाल पर्यन्त भगवान की महिमा का बोध कराती रहती है। अतः ज्ञानी दो प्रकार के हैं। प्रथम, जो ज्ञान प्राप्त करके, अद्वैतावस्था को प्राप्त करने के साथ मोक्षलाभ करते हैं। इनकी गति यहीं अवरुद्ध हो जाती है। द्वितीय प्रकार के वे हैं जो मोक्ष लाभ के अनन्तर भी भगवान के गुण कीर्तन में तन्मय रहते हैं। इनकी भक्ति ज्ञानोत्तरा है। इस अहैतुकी भक्ति का कभी अन्त नहीं होता।

प्रणव रहस्य

शास्त्रमान्यता के अनुसार ॐकार एवं "अ" शब्द सृष्टि के आदि शब्द हैं। ॐकार को ब्रह्मस्वरूप कहा जाता है। परब्रह्म का बहिःप्रकाश ही शब्द ब्रह्म है। शब्द ब्रह्म पराशक्ति स्वरूपता से ओतप्रोत रहता है। उपनिषदों ने ॐकार को उमा रूपी परशिव की पराशक्ति माना है। सृष्टि मूल में इसी की सत्ता विद्यमान रहती है। यह व्याहृतिरूप भूर्भव स्वः रूप है। ॐकार से ही विश्व रचना होती है। शब्द के पर एवं अपर रूप दो भेद होते हैं। पर शब्द ही आदि स्पन्दन रूप आदि शब्द है। पर शब्द से विश्व के समस्त पदार्थ समूह का तथा भावनिचय का वहिः प्रदेश में अभिनिष्क्रमण होता है। अपर शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रथमावस्था में शब्द तथा अर्थ अखण्ड अनुभव भूमि पर निद्य रूप से प्रकाशमान रहते हैं। द्वितीयावस्था में शब्द का स्फुरण होता है चित्ताकाश में। इस समय शब्दावस्था शुद्धविकल्पमयी रहती है। तृतीयावस्था मे शुद्ध विकल्प बहिर्मुख होकर बाह्य वायु का आघात प्राप्त करता है। शुद्ध विकल्प अवस्था में (शुद्ध संकल्प राज्य में) वाह्यवायु का स्पर्श नहीं रहता। इस अवस्था में ज्योतिततनाद दिव्य सम्पदरूप से निरन्तर उच्छ्वसित होते-होते चिदाकाश की ओर उर्ध्वगतिशील रहता है। बाह्य वायु के संस्पर्श से शब्द में घनीभूत स्थिति का संक्रमण होता है। शब्द, प्राण से संयुक्त होकर श्वास-प्रश्वास का उदय कराता है। इसी अवस्था में वैखरीरूप शब्द का आविर्भाव हो जाता है। वैखरी ही जीव की वृद्धावस्था है। समस्त विराट प्रपंच

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैखरी भूमि के वक्षस्थल पर प्रतिभात होता है। यही स्तर देहाभिमान का कारण है। वैखरी भूमि में शब्द के साथ अर्थ का कृत्रिम सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। इस अवस्था में शुद्ध विकल्प के स्थान पर अशुद्ध विकल्प जनित श्वास-प्रश्वास की गति इड़ा–पिंगला नाड़ियों में प्रवाहमान हो जाती है। सुषुम्ना नाड़ी एक प्रकार से अवरुद्धावस्था से जड़ित रहती है। शुद्ध शब्द वैखरी अथवा अन्तर्वैखरी के अन्तर्गत नहीं आते। अन्तर्वैखरी स्थिति के पश्चात् शुद्ध विकल्प का आभास ज्योति उदय के अनन्तर प्राप्त होता है। यही शुद्ध विकल्प क्रमशः आदिवाक् एवं परावाक् भूमि पर्यन्त उर्ध्वोत्थित होता है। परावाक् ही शब्द ब्रह्म है। शब्द ब्रह्मावस्था की प्राप्ति के समय पूर्ण अहंबोध का उन्मेष होता है। जगत् में सर्वत्र अहं विद्यमान है। योगीगण परावाक् को ही ॐकार कहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अतीत, अनागत, वर्तमान, स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रभृति ॐकार से ही निर्गत होते हैं।

तंत्र शास्त्रोक्त समस्त बीजमंत्र समूह का स्फुरण पूर्ण अहं सत्ता से ही होता है। इस पूर्ण अहं का बोध होने पर पूर्ण चैतन्यावस्था की प्राप्ति होती है। संसार की सभी भाषाओं के मूल में वर्णमाला का ही आधार परिलक्षित होणा है। भाषा के द्वारा व्यक्ति भाव का प्रकाशन करता है। भाषा के मूल में जिस वर्णातीत नाद की सत्ता है, वही बोध का मूल है। बोध का मूल है ज्योति। यही महाज्योति ॐकार के मूल केन्द्र पर्यन्त उत्थान कराती है। इस स्थल पर अशुद्ध शब्द भूमि का अतिक्रमण तथा शुद्ध शब्दावलंबन द्वारा अन्तर्जगत् में प्रवेश का तात्पर्य जानना आवश्यक है। चित्त का अन्तर्ोन्मुखी स्त्रोत उन्मुक्त हो जाने के पश्चात् नाद स्वतः प्रकाशित होने लगता है। वैखरी अक्षर के साथ, अथवा नाद के साथ अनुस्वार संयुक्त करके निरन्तर जप करते रहने से, यही अनुस्वार नादरूप में परिणत होने लगता है। नादरूपता स्थूल आवरण का उच्छेद करती है। तांत्रिक प्रक्रिया में वर्ण अथवा पद के पश्चात् अनुस्वार का निरन्तर चिन्तन करना, इसी सिद्धान्त का द्योतक है। नाद अवस्था का साक्षात्कार होते ही विश्वव्यापी स्त्रोत उन्मुक्त हो उठता है। ग्रन्थिबन्धन शिथिल होने लगते लगते हैं। भावग्रन्थि, द्रव्यग्रन्थि प्रभृति नाना प्रकार की ग्रन्थियाँ जीवभाव को आच्छन्न करती रहती हैं। इन सब की मूल ग्रन्थि को अहंकार कहा जाता है। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि, अहं का ही प्रकार भेद मात्र है। केवल स्थूल ग्रन्थि का भेदन करके शान्त नहीं होना चाहिए। भावादि ग्रन्थियों का भेदन भी परम आवश्यक है। सब ग्रन्थियों के भेदन के उपरान्त मुक्तावस्था का साक्षात्कार प्राप्त होता है। ग्रन्थिभेदन के अनन्तर जगत् का नानात्व समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में समस्त विश्व "स्व" रूप में उपलब्ध होने लगता है। ग्रन्थिहीन ही यथार्थ मुक्त पुरुष होते हैं।

★

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीक्षा प्रक्रिया

सांख्य ज्ञान अथवा वेदान्त ज्ञान प्राप्त्यर्थ दीक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है। परमेश्वर ज्ञान प्राप्त करने के लिए दीक्षा के अतिरिक्त कोई उपाय भी नहीं है। दिव्य ज्ञान का तात्पर्य है, वह ज्ञान जिसमें परमशिव नित्यरूपेण विराजित हैं। इसके कारण एवं मूल हैं स्वयं परमेश्वर। सद्गुरुरूप से दीक्षा द्वारा (परमेश्वर ही) शिष्य में इस दिव्य ज्ञान के कणमात्र का संचार करते हैं। देहात्मबोधावस्था के रहते यह ज्ञान साक्षात् परमेश्वर द्वारा संचरित नहीं हो सकता, अतः परमेश्वर इस ज्ञान का संचार मनुष्य, सिद्ध पुरुष अथवा देवता के माध्यम से कराते हैं। यह माध्यम ही गुरुपदवाच्य हैं। सर्वप्रथम दिव्य गुरु का स्तर है। उसके निम्न स्तर में क्रमशः सिद्ध गुरु एवं मानव गुरु का विधान किया गया है। गुरुगत भेद होने पर भी गुरुशक्ति सबमें एक ही है। साधारण स्तर में मानवीय गुरु द्वारा ज्ञान संचरित होता है। विशेष अधिकारी पुरुष सिद्ध गुरु से उपदेश प्राप्त करते हैं। अत्यन्त उच्चाधिकार सम्पन्न साधक दिव्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। दिव्य गुरु से योग्य व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने साक्षात् भगवती के द्वारा ज्ञानोपदेश प्राप्त किया था। यह दिव्य गुरु का उदाहरण है। शंकराचार्य के परमगुरु गौड़पाद ने शुकदेव से ज्ञान प्राप्त किया। यह सिद्ध गुरु का उदाहरण है।

यहाँ यह विशेषतया ज्ञातव्य है कि समस्त ज्ञान श्री भगवान के चरण से निर्गत होता है। इस स्थिति में गुरु का क्या प्रयोजन ? गुरुवर्ग ज्ञान का वाहक है। जो परमेश्वर से साक्षात् रूप से ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते, उनके लिए गुरु विशेष प्रयोजनीय हैं। देहात्मभाव की स्थिति में साक्षात् रूप से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इस में आधारगत तारतम्य से ही, परम्परागत प्रक्रिया द्वाराज्ञान का संचार गुरुगण करते हैं। इसी प्रक्रिया को दीक्षा कहा जाता है। यहाँ एक रहस्य ज्ञातव्य है। भगवत् शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होने की स्थिति में तत्काल शिवत्व की प्राप्ति हो सकती है। इस अवस्था में किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती। यह शक्तिपात् किंचित न्यून होने की स्थिति में साधक में प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है। उसे बाह्य गुरु का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। वह अन्तरतम बिन्दु से ज्ञानोदय का अनुभव करता है। इसे अनौपदेशिक, प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थिति में वाह्यगुरु की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह शक्तिपात और भी मंद होने की अवस्था में अन्तर्जगत् में चिन्मय गुरु का साक्षात्कार मिलता है। चिन्मय स्वरूपावस्था में शिष्य ज्ञानयुक्त हो जाता है। यही शक्तिपात और भी मन्द होने की स्थिति में वाह्यगुरु का प्रयोजन है। इस अवस्था में शिष्य उपदेश के अनुसार साधन प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार अनन्त भेद दृष्टिगोचर होते हैं। गुरुगण ज्ञान द्वारा पौरुष अन्धकार विमोचन करते हैं किन्तु बौद्ध अज्ञान रूप देहात्मबोध का नाश करने में गुरु समर्थ नहीं हैं। उसका नाश साधना द्वारा होता है। देहात्मबोधावस्था में ही साधना का प्रयोजन है। आगम शास्त्र के अनुसार साधन प्रणाली के दो रूप परिलक्षित होते हैं। एक के अनुसार कैवल्यभाव मुख्य है। कैवल्यभाव को ही पुरुष कैवल्य एवं ब्रह्म-कैवल्य कहते हैं। द्वितीय के अनुसार भगवत्ता, परमशिवत्व तथा स्वातंत्र्यमयी परासंवित की प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य है। सांख्य-साधना का लक्ष्य है, विवेक ज्ञान मूलक कैवल्य की प्राप्ति। पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्रकृति से मुक्त हो जाता है। यही पुरुष चित् स्वरूप है। वेदान्त कैवल्य का भी यही तात्पर्य है। निरन्जन भावप्राप्ति ही वेदान्त का लक्ष्य है। सांख्य एवं वेदान्त का पार्थक्य यह है कि सांख्य में आत्मा अनेक है, जबकि वेदान्तिक गण आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त अनिर्वचनीय माया को मान्यता देता है, सांख्य अचित् त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपा स्थिति को मानते हैं। आत्मा की स्वरूप स्थिति दोनों में प्रायः एक ही प्रकार से मान्य है। आत्मा का परमेश्वरत्व अथवा पूर्णत्व, (दोनों मान्यताओं में) परिलक्षित नहीं होता। सांख्य का ज्ञान है विवेक ज्ञान। इसमें आत्मा अचित् से मुक्त होकर चित् स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है, तथापि उसमें विमर्श नहीं रहता। वेदान्त में भी विमर्शहीन स्थिति को मान्यता दी गयी है। इसमें भी आत्मा की स्वतन्त्र्यात्मिका स्थिति का प्रतिपादन नहीं हुआ है।

आगमिक दृष्टिकोण में एक वैलक्षण्य विद्यमान है। इसका भी लक्ष्य है अचित् से चित् को मुक्त करना। यह अचित् स्थिति प्रकृतिरूपा, मायारूपा तथा महामायारूपा भी हो सकती है। इस मुक्ति के अनन्तर भी आत्मा के स्वतःसिद्ध शिवत्व का उद्बोधन नहीं होता। अतः आगमिक मान्यता यह है कि चित् स्वरूप के साथ चिद्रूपा स्वरूप शक्ति का विकास होना भी आवश्यक है। तभी चिद् स्वरूप शिवरूप का प्राकट्य संभव होगा। वास्तव में शिव एवं शक्ति अभिन्न हैं। दोनों में ही चित् स्वरूपता तथा आनन्द रूपता का समावेश है। शिवशक्ति का सामरस्य ही पूर्णत्व का संचार करता है। अतः आत्मा को मोचक ज्ञान तथा तारक ज्ञान युक्त मानना ही यथेष्ठ नहीं है। आत्मा में चित्स्वरूपभूता शक्ति के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वातन्त्र्यरुप की अभिव्यक्ति भी प्रयोजनीय है। इसका नाम है स्वातन्त्र्यमय बोध। शैवदृष्टि के अनुसार तथा शाक्त दृष्टि के अनुसार इसे बोधात्मक स्वातन्त्र्य भी कह सकते हैं। स्वातन्त्र्य तथा बोध के पारस्परिक व्यवधान से सृष्टि का उन्मेष होता है। इससे आज्ञानाविर्भाव सम्पादित होने लगता है। अतः शुद्धविद्या ही मुख्य ज्ञान है। सद्‌गुरुगण इसी शुद्धविद्या के संचार द्वारा जीवको शिवत्व पर्यन्त उन्नीत कराते हैं। जैसे अनात्मा में आत्मबोध अज्ञानात्मक है, वैसे ही आत्मा में अनात्मबोधावस्था भी अज्ञान जनित ही है। आत्मा में आत्म-बोध ही मुख्य ज्ञान का स्वरूप है, तथापि वेदान्त अथवा सांख्य में यह स्थिति नहीं हैं। आत्मा में आत्मबोध को पूर्णाहन्ता कहा गया है। इस ज्ञान के द्वारा जीव स्वयं की उपलब्धि परमशिवरूप में करता है।

यद्यपि विवेक ज्ञान द्वारा आत्मा अचित् से मुक्त होकर चिद् रूप में प्रकाशित होता है, तथापि यह चिद् रूप विशुद्ध रूप का प्रतिफलन नहीं करता। अतः अविवेक की निवृत्ति के अनन्तर भी आत्मा स्वयं की प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकता। आगमानुसार आत्मा में अनात्मबोध ही अज्ञान हैं। यह विशुद्ध माया जनित अज्ञान है। विवेक ज्ञानोदय के उपरान्त भी आत्मा का स्वयं को न जानना साधारण अशुद्ध माया जनित आवरण न होकर, शुद्ध माया जनित आवरण है और यह प्रकृति राज्य से उर्ध्व की प्रक्रिया है। शुद्धविद्या का उदय होते ही सर्वत्र अहं रूप का विकास होने लगता है। "इदं" भाव का ह्रास हो जाता है। इदं का पूर्णलोप होते ही एक मात्र अहंभाव की सत्ता शेष रह जाती है। यह है पूर्ण ईश्वर, परशिव, परमेश्वर। शाक्त दृष्टि से यही परासंविद्, आधार शक्ति, महा-शक्ति एवं जगदम्बा है।

यह पूर्व कथित है कि अध्यात्म मार्ग में गुरु का स्थान अन्यतम है। जैसे माता के गर्भ में बीज रूप से सन्तान निहित रहता है एवं क्रमिक विकास प्रक्रिया द्वारा उसके अंग प्रत्यंग निर्मित होते हैं और प्रसव काल में सन्तान बहिर्गत होता है, वैसे ही गुरुदत्त बीजमंत्र साधक के हृदयक्षेत्र मे दीक्षा द्वारा स्थापित होता है। शिष्य उसकी सम्यक् रक्षा करके साधना द्वारा विकसित करता रहता है। वह बीजमंत्र इस प्रकार विकास प्राप्त करते-करते भविष्य में साकार इष्ट देवता रूप में प्रगट होता है। यह प्रसवानुरूप प्रक्रिया है। दीक्षा के अनन्तर गुरुप्रदत्त साधना का अनुशीलन करने से प्रथमतः ज्ञानाविर्भाव, तदनन्तर भक्ति का प्रस्फुटन अनुभूत होने लगता है। शुष्कज्ञान के साथ भक्ति का किंचित मात्र सम्बन्ध नहीं हैं। शास्त्र जनित शब्दज्ञान भी व्यर्थ है। इन सब से अपरोक्ष ज्ञान का उन्मेष नहीं हो सकता। वास्तविक ज्ञानोपलब्धि गुरुप्रदत्त क्रिया के द्वारा ही हो सकती है। सद्-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुरुगण शिष्य के आधार का विचार करने के उपरान्त दीक्षादान करते हैं। वे शिष्य की आधारगत योग्यता तथा प्रकृतिगत विलक्षणता के अनुपात से योग शिक्षा देते हैं। दुर्वल आधार युक्त को दीक्षा नहीं दी जाती। योगी एवं साधक का आधारगत निर्णय जन्मकाल से होता है। क्षणजन्मा योगी तथा कालजन्मा साधक होता है। क्षणजन्मा के भी अनेक भेद हैं।

इसी प्रकार साधकदीक्षा तथा योगदीक्षा में पार्थक्य है। उभय दीक्षा से कुण्डलिनी का जागरण होता है। यद्यपि शिष्यगण अपनी स्वचेष्ठा से कुण्डलिनी को जाग्रत कर सकते हैं, तथापि यह दुःसाध्य कार्य है। साधक दीक्षा में वह शक्ति प्राप्त होती है, जिसके साथ साधनाभ्यास रूपी पुरुषाकार का योजन करने से कुण्डलिनी जाग्रत हो उठती हैं। कुण्डलिनी अर्थात् शक्तिमय उर्ध्वज्योति। जहाँ यह शक्तिमय ज्योति साधक के लिये एक प्रकार की है, वहीं योगी के लिये अन्य प्रकार से अविर्भूत होती है। दीक्षानन्तर गुरुप्रदत्त साधना करते-करते जाग्रत शुद्ध तेज क्रमशः प्रज्वलन्त रूप धारण करता है। यह तेज साधक सत्ता में निहित एवं संचित वासना, संस्कारादि को भस्म कर देता है। यही है मायिक आवरण का दग्धीकरण। अब साधक का क्रमोत्कर्ष सम्पादित होने लगता है। अन्त में समस्त वासनाओं का क्षय (सिद्धावस्था में) हो जाता है। इस स्थिति में पूर्वोक्त जाग्रत कुण्डलिनी अपरोक्ष भाव से इष्टदेवता रूप में प्रगट हो जाती है। अब साधक देहरहित हो जाता है। साधक को सिद्धि मिलती है देहरहित अवस्था में, अर्थात् सिद्धि प्राप्ति के क्षण में ही देहपात हो जाता है।

योगी का आधार साधक की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण तथा भिन्न है। सदगुरु दीक्षाकाल में ही योगी की कुण्डलिनी को जाग्रत कर देते हैं। यहाँ साधक एवं योगी के पार्थक्य को जानना आवश्यक है। साधक की कुण्डलिनी साधनाभ्यास से जाग्रत होने के अनन्तर केवलमात्र ज्योतिरूप में प्रकाशित होती है, परन्तु इसी विन्दु पर योगी की जाग्रत कुण्डलिनी साकार इष्टदेवता के रूप में आत्मप्रकाश करती है। जिस साकार रूप का दर्शन साधक को देहपात काल में होता है, उसी साकार रूप का साक्षात्कार योगी के लिये प्रारंभिक घटना मात्र है। साधकगण अपने कर्म द्वारा ज्योति को साकार रूप में परिणत करते हैं, परन्तु योगीगण अनायास ही अपने कार्य द्वारा साकार इष्टदेव की आराधना करने लगते हैं। साधक वासनाओं के दग्धीकरण के कारण निराकार ज्योति की उपासना करता है, किन्तु योगी को वासनादि का त्याग नहीं करना पड़ता। वह वासनादि को निर्मल करके, अपने स्वरूप के साथ समायोजित कर लेता है। यही योग है। अतः देह रहने पर भी योगीगण साकार दर्शन प्राप्त करते रहते हैं। पूर्णयोगसिद्ध होते ही योगीगण को महाज्ञान प्राप्त होता है। योगकर्म रूप घर्षण द्वारा चिदग्नि आविर्भूत होती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। यही ज्ञानाग्नि है। यह ज्ञान शुष्क ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान के प्रभाव से पूर्ण भगवत् सत्ता का प्रकाश होता है। अब योगी पराशक्ति स्तर पर्यन्त उन्नीत हो जाता है।

संसार में प्रचलित भक्ति को उन्मादिनी भक्ति कहते हैं। योगी द्वारा सेव्य पराभक्ति के साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। इस भक्ति की परिपक्वावस्था प्रेम रूप में परिणत हो जाती है। प्रेम प्राप्ति को साधना का पूर्ण विकास माना जाता है। योगीगण गुरुप्रदत्त क्रिया का अनुष्ठान करते-करते विभिन्न प्रकार की विभूति को प्राप्त करते हैं। यही योगविभूति का स्वरूप है। यथार्थ योगी है ईश्वर, जिनके अधीन अचिन्त्य शक्तिरूपिणी माया विराजित है। अतः योगी का आदर्श है ईश्वरत्व प्राप्ति। ईश्वरत्व में तीन शक्तियाँ प्रधान हैं, यथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया। पूर्ण ज्ञान शक्ति से सर्वज्ञता तथा पूर्ण क्रिया शक्ति द्वारा सर्वकर्तृत्व का उदय होता है। ज्ञान एवं क्रिया के संयोग से विज्ञान शक्ति प्रकट होती है। विज्ञान शक्ति के साहाय्य से योगीगण सृष्टि रचना करने में समर्थ होते हैं। विज्ञान के मूल में प्रकृति का प्राधान्य स्वीकार करना ही होगा। प्रकृति से कार्य की उत्पत्ति के लिए क्रमशः ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति द्वारा प्रकृति का अनुसरण करना पड़ता है। इच्छा शक्ति के लिए यह नियम नहीं है। इच्छा के प्रभाव से योगीगण कोई भी कार्य कर सकते हैं तथा किसी भी ज्ञेय को जानने में समर्थ होते हैं। इच्छा शक्ति सिद्ध के लिए ज्ञान शक्ति का कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसे सिद्ध के लिए ज्ञान का कोई महत्व हीं नहीं है; तथापि कार्य होता रहता है और क्रिया का कोई महत्व नहीं है, तथापि कार्य हो जाता है। इच्छा शक्ति सम्पन्न योगीगण समस्त ईश्वरीय कार्य को प्रयोजनानुसार सम्पन्न करते हैं। सर्वान्त में इच्छा शक्ति का विलय महाइच्छा में हो जाता है। अब योगी की स्थिति अपरिच्छिन्न आनन्द स्वरूप में हो जाती है। अब योगी को किसी कार्य के लिए इच्छा करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसके समस्त कार्यों का सम्पादन महाइच्छा द्वारा किया जाता है। योगी निरन्तर परमानन्द में निमज्जित सा रहता है। आनन्द में भी एक प्रकार की तरंग रहती है। अनुकूलता से सुख एवं प्रतिकूलता से दुःख का उदय होता है। अनुकूल प्रतिकूल का परित्याग करने के अनन्तर योगीगण चित्शक्ति पर आरुढ़ हो जाते हैं। चित्शक्ति ही पराशक्ति का बाह्यरूप है, जिसका अवलम्बन लेकर समग्र विश्व का भान होता है। इस स्थिति में उन्नीत होने के अनन्तर कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कृपा एवं कर्म

मानव का चरम लक्ष्य है भगवत् प्राप्ति। इसी के लिए अध्यात्ममार्ग में गुरु प्रदत्त प्रक्रिया का विधान है। जब तक देहाभिमान की प्रबलता है, कर्तृत्वबोध विद्यमान है, तब तक गुरु प्रदत्त कर्म अथवा साधना का अनुगमन करना ही होगा। अभिमान से काम प्रवृत्ति का जन्म होता है। प्रत्येक देहधारी प्रतिक्षण कार्य करता है। अतः इस अभिमान राज्य से, अभिमान भूमि से, आबद्धता बढ़ती जाती है। यही कारण है कि साधना का अवलम्बन लेना पड़ता है। साधना ही कर्मकौशल है। "योगः कर्मसु कौशलम्"। कर्म बन्धन की आशंका से भी कर्म ही मुक्त करता है। बन्धन काकारण है चित्त का मालिन्य। यह मालिन्य फलाकांक्षा जनित है। फल प्राप्ति की आशा ही चित्त को कलुषित करती है। अतः कर्त्तृत्वबोध का त्याग करके कर्म करते रहना चाहिए। इसी का नामान्तर है योगस्थ कर्म ! इस प्रकार आसक्ति से त्राण मिलता है। व्यक्ति फलाकांक्षा रहित होने के कारण सिद्ध अथवा असिद्ध, दोनों अवस्थाओं में समभाव से स्थित रहता है। यह समत्व ही योग है। इस प्रकार के कर्मानुशीलन द्वारा चित्त में शुद्धि का संचार होने लगता है। अभिमान शैथिल्य का आविर्भाव हो जाने के कारण नानाविध बन्धनात्मक कर्मेच्छा समाप्त हो जाती हैं। यहां पर ज्ञातव्य है कि अभिमान शिथिल होने पर भी उसका पूर्ण विनाश हो, इसके लिए भी साधन कर्म उपादेय कहा गया है। इस स्थिति में सर्वोत्कृष्ट कर्म है, परमेश्वर तथा भगवान का आश्रय ग्रहण करना। यही शरणागति है। यथार्थ सन्यास भी इसे ही कहते हैं।

किसी विशिष्ट कर्म को न करते हुये एकमात्र परमात्मा के प्रति दृष्टि रखना तथा उन पर ही निर्भर रहना, शरणागति का नित्यलक्षण माना गया है। इससे कर्म शिथिल होने लगता है। शरणागत साधक भगवान् का सर्वतोभावेन आश्रय लेता है। उसका मन भगवान् में नियोजित होने के कारण कर्तृत्वभाव से रहित होता जाता है। अब परमात्मा ही कर्त्तारूप है। साधक कर्त्ता नहीं है। उक्त है "त्वया ऋषिकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि" साधक जानता है कि वास्तविक प्रेरक एवं कर्त्ता हैं अन्तर्यामी भगवान्। तत्पश्चात् भी विलीन हो जाने से साधक में निश्चिन्तता आ जाती है। स्वयं भगवान् कर्तृत्व रूप से स्फुरित होते हैं। अब साधक को यह भी भान नहीं रहता कि वह अन्य द्वारा प्रेरणा पाकर अथवा प्रेरित होकर कर्म कर रहा है। वह साक्षी रूप धारण कर चुका है, भगवान् स्वयं कर्त्ता हैं। उसे अनुभूति होती है कि उसका शरीर, मन, बुद्धि आदि जो कुछ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी कार्य कर रहा हूँ, वह श्री भगवान् द्वारा ही कृत है। इस स्थिति में साधक धर्माधर्म से मुक्त होकर, श्री भगवान् का चरणश्रित होकर, उनकी अनन्त लीलाओं का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार साधारण दृष्टिकोणानुसार कर्म का स्थान प्रथम है तथा कृपा का प्रसार पश्चात् काल में होता है। यह सामान्य दृष्टिकोण है, जबकि सत्य तो यह है कि कर्म के मूल में भी कृपा की ही सत्ता रहती है। मुख्य कृपा तब प्रकाशित होती है, जब साधक शिशु के समान द्रष्टाभाव युक्त होकर श्री भगवान् के चरणों में स्थित हो जाता है।

अब यह प्रसंग आगमिक धारा के अनुसार विचारणीय है। प्राचीन तांत्रिकगण का कथन है कि सामान्यतः उपायावलम्बन द्वारा उपेय को प्राप्त किया जाता है। इस उपाय रूपी नौका पर आरुढ़ होना आवश्यक है। इनके मत से देहाभिमान, प्राणाभिमान, इंद्रियाभिमान, बुद्धि का अभिमान, आदि अभिमान के असंख्य रुप हैं। इसी कारण उपाय की आवश्यकता कही गयी है। तत्तद् कर्म से तत्तद अभिमान की शान्ति होती है। अभिमान की शान्ति के साथ ही प्रेरणामूलक कर्म की भी शान्ति सम्पादित हो जाती है। अब साधक के लिये विधि-निषेध का कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। यह अवस्था किस प्रकार की है? इस अवस्था में जीवस्थ (जीव के अन्तस्थः) चित्शक्ति अनादिकालीन निद्रा से जाग उठती है। सप्तशती में ब्रह्मा की स्तुति द्वारा चित्शक्ति जागरण का उल्लेख प्राप्त होता है। इसे प्रबुद्धभाव की पूर्वावस्था कहा जा सकता है। प्रचलित मान्यता के अनुसार इसे कुण्डलिनी का जागरण कहते हैं। संवितशक्ति का जागरण होने पर साधक को अपनी ओर से अब कुछ भी नहीं करना पड़ता। किंचित् देहाभिमान अवशिष्ट रह जाने के कारण उसे नाममात्र के आभासरुप कर्म का अनुष्ठान करना शेष रह जाता है। शक्ति जाग्रत होते ही उर्ध्वदिक् प्रवाहित होने लगती है। इस उर्ध्वप्रवाह के कारण अचित्सत्ता भी चिदात्मक रुप धारण करते हुये, चित्सत्ता में प्रविलीन हो जाती है। साधक वेग से चित्रुपी महासमुद्र की ओर अग्रसर होने लगता है। उसे इसके लिये स्वयं चेष्ठा नहीं करना है। यह वेग ही उसे उर्ध्वकेन्द्र की ओर ले जाता रहता है। वह अब शक्ति की क्रिया से ही क्रियाशील है। इस प्रकार शक्ति के साथ युक्त होकर, जीवनरुपी आत्मा शिवरुपी महासमुद्र पर्यन्त गतिलाभ करता है। आगम के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी आणवोपाय का वरण करता है। मध्यम अधिकारी के लिये आणव उपाय से श्रेष्ठतर शाक्त उपाय का विधान किया गया है। अतः गीता में उक्त है :—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अभी भी पूर्णत्व का सन्धान शेष है। अतः आगममार्ग में शांभव उपाय का उल्लेख किया गया है। शिव हो जाने पर भी तब तक पूर्णत्व दूर है, जब तक शिव होने का बोध नहीं है। यह बोध होते ही पूर्णत्व प्रकाशित हो जाता है। अब शिवसत्ता भी है, साथ में शिवभाव रूप बोध भी प्रज्वलन्त हो रहा है। सत्ताबोध के उपरान्त आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। कृपा एवं कर्म, उभय परम्परा सापेक्ष हैं, तथापि प्राथमिक अवस्था में कर्म प्रधान है। परिपक्वावस्था में कृपा ही प्रधान हो जाती है। पूर्ण स्थिति में न तो कर्म ही है और न कृपा ही है। किसी-किसी परिस्थिति में कर्म के पश्चात् कृपा का अनुभव होता है और कभी-कभी कृपा के प्रभाव से कर्म में प्रवृत्ति होती है। जन्मान्तर संस्कारों के कारण यह पार्थक्य हो जाता है। कृपा के अनन्तर महाकृपा की स्थिति प्रकाशित होती है। मह कृपा का आविर्भाव होने पर भगवान् स्वयं आकृष्ट होकर भक्त के पास आते है। शिशु के रुदन से खिंचकर मां को ही आना होता है।

*

पूर्ण स्वरूप प्राप्ति

आत्मा का स्वरूप है स्वातंत्र्यमय अखण्ड महाप्रकाश। इसकी प्राप्ति के लिये प्रथमतः निराकार निर्गुणस्वरूप ग्रहण किया जाता है। तत्पश्चात् साकार सगुण रूप का वरण होता है। निराकार स्वरूप विश्वातीत है। साकार विश्वात्मक कहा गया है। इन दोनों स्वरूप की प्राप्ति के पश्चात् परमस्वरूप का साक्षात्कार होता है। परमस्वरूप भूमि में साकार, निराकार, सकल, निष्कल, सगुण, निर्गुण, सविशेष, निर्विशेष प्रभृति समस्त स्वरूप समूह का समाधान प्राप्त हो जाता है। इसके पश्चात् योग का पथ उन्मुक्त होता है। योग की घनीभूत सिद्ध अवस्था में सायुज्य की प्रतिष्ठा होती है, तदनन्तर सायुज्य के पश्चात् अद्वय अवस्था का अनुभव होता है। अतः सर्वप्रथम विश्वभेद करना होगा। विश्वभेद होता है दक्षिणावर्त्त परिक्रमा से। योगी सम्मुख दृष्टि द्वारा क्रमशः अपनी ज्ञानशक्ति को निर्मल करता है। ज्ञान की मलिन अवस्था में ज्ञेय का ही भान होता रहता है। ज्ञान की निर्मलता के साथ-साथ ज्ञेय का तिरोधान होता है। सर्वान्त में ज्ञान पूर्णरूप से स्वच्छ हो जाता है। इस भूमिका में बाह्य ज्ञेय की सत्ता ही नहीं रह जाती। इसी स्थिति को लक्ष्य करके पतंजलि कहते हैं कि ज्ञान की अनन्तात्मिका स्थिति में विश्वरूप भासमान ज्ञेय का कोई भी अस्तित्व शेष नहीं रह जाता :—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"ज्ञेयस्य आनन्त्याद ज्ञेयमल्पम्"।

इसका तात्पर्य यह है कि योग की प्रारंभिक स्थिति में उर्ध्वगति की प्राप्ति के साथ-साथ ज्ञान में निर्मलता आती है। जिस मात्रा में निर्मलता आती जाती है, उसी मात्रा में ज्ञेय भी एकाकार होने लगता है। क्रमशः विश्वरूपी ज्ञेय सत्ता आकार रहित होकर निराकार आत्मसत्ता के साथ एकत्व लाभ करने लगती है। यही है "विश्वभेद"!

यह विश्व व्यष्टि एवं समष्टि तथा आकार की ही सत्ता है। यह क्रमानुसार भासमान होता है। योगी के ज्ञान में निर्मलता का संचार होने पर, साकार विश्व ज्ञानरूप में भासमान होता है। सर्वान्त में निराकार आत्मसत्ता में पर्यवासित हो जाता है। इस स्थिति में ज्ञाता आत्मा अपनी उपलब्धि ज्ञेय रूप में करता है, अर्थात् ज्ञाता ही निराकार रूप ज्ञेय हो जाता है। अनेक साधक इस निराकार आत्मदर्शन को साधना का परम लक्ष्य मान कर यहीं अवरुद्ध हो जाते हैं, तथापि यह आत्मा का "पृष्ठदर्शन" ही है। यह निराकार आत्मदर्शन दक्षिणावर्त्त गति का परम लक्ष्य है। यहाँ एक विशिष्टता परिलक्षित होती है। सद्गुरु कृपा प्राप्त योगी अब वामावर्त्त गति का आश्रय लेकर स्वस्वरूप में उपनीत होते हैं। दक्षिणावर्त्ती गति में जिस ज्ञेयरूपी विश्व का निराकार में विलय हो चुका था, अब पुनः उसका पुनरुत्थान हो जाता है। यह पुनरुत्थान चिन्मयस्वरूप में होता है। पहले विश्व अचित्, मायिक तथा जड़ भावापन्न था। विलोम गति का सन्धान न मिलने पर यह जड़ विश्व ज्ञेय के विलीनीकरण के समय से ही निराकार स्वरूप आत्मा में विलीन था। अब गुरु कृपा से विलोम गति का सन्धान मिल जाने के कारण अस्तगत विश्व का पुनरुद्धार होता है। क्योंकि लय हो जाने से पथ ही समाप्त हो जाता है। इस कारण विश्व का चिन्मय स्वरूप में पुनरुद्धार होना आवश्यक है। परिशेष काल में जब समय विश्व चिन्मय रूप से पुनः प्रकट होता है, उसी अवस्था में ही विश्वात्मक आत्मस्वरूप का दर्शन संभव हो सकेगा।

यह आत्मा का पृष्ठ दर्शन नहीं है। यही है आत्मा का सम्मुख दर्शन। इसे समस्त विश्वात्मक आत्मा का सम्मुखीन दर्शन भी कहते हैं। प्रथमतः आत्मा के निराकारत्व का साक्षात्कार होता है, उस अवस्था में विश्व की सत्ता निराकारत्व में प्रविलीन हो जाती है। अब आत्मा के नित्यसाकार स्वरूप की उपलब्धि होती है। दोनों अवस्थायें एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। एक है अनुलोम गति का फल। आत्मा का पृष्ठरूप। द्वितीय है विलोम गति का फल, जो आत्मा को सम्मुखीन रूप है। दोनों स्वरूप आत्मा की अखण्ड सत्ता के अन्तर्गत आते हैं। इनका साक्षात्कार सरल गति के अनुसरण से होता है। सरल गति की स्थिति में गत्यावर्त्तन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की प्रक्रिया नहीं रहती। दक्षिणावर्त्त तथा वामावर्त्त गति अस्त हो जाती है। गति का तिरोधान ही सरल गति की अवस्था है। सरल गति की अवस्था में केन्द्रस्थ विन्दु का अखण्डरूप से दर्शन मिलने लगता है। योगमार्ग में सुषुम्ना ही सरल गतियुक्त है। सुषुम्ना के अन्तर्गत आत्मा के पूर्ण स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है। अब सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार प्रभृति का द्वन्द्व नहीं रहता। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सरल गति में पूर्णसत्ता का दर्शन होते रहने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। कारण, इस अवस्था में द्रष्टा दृश्य, उपासक उपास्य के मध्य का व्यवधान उच्छिन्न नहीं होता। इस व्यवधान की समाप्ति के अनन्तर ही दोनों का योग हो सकेगा। पूर्ण स्वरूप का अनिमेष भाव से दर्शन करते-करते यह व्यवधान भी कट जाता है। इस व्यवधान के कटते ही युक्तता आने लगती है। अर्थात् उपासक तथा उपास्य का पारस्परिक योग स्थापित होने लगता है। सर्वान्त में उपासक उपास्य में अनुप्रविष्ट हो जाता है। अब उपास्य एवं उपासक सामरस्य प्राप्त करते हैं। इसी अवस्था के लिए "शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः" की उक्ति कही गयी है। शिव कहने से शिवशक्ति दोनों का भान होता है। इसे पौराणिकजन 'सायुज्य" भी कहते हैं। यह योग की परम अवस्था है।

शक्ति का विकास क्रम

शाक्त सम्प्रदाय अद्वैतवादी है। शाक्तो के अन्तर्गत अनेक दृष्टिकोण प्रचलित हैं, तथापि उसमें कुलाम्नाय का दृष्टिकोण विशेष उल्लेखनीय है। इसके अनुसार विश्व के ऊर्ध्व में जो परमसत्ता विराजित है, उसका नाम है "अकुल"। यह अनन्त महासमुद्रवत् अवस्थान करती है। जब इस महासमुद्रवत् अनन्त अकुल अवस्था में तरंगे नहीं उठती, उस समय समस्त सृष्टि तिरोधान अवस्था में अन्तर्निहित रहती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। परमेश्वर के पंचकृत्य में तिरोधान तथा अनुग्रह कृत्य को सर्वप्रथम माना जाता है। तिरोहित अवस्था में स्वरूप गुप्त रहता है और उसकी पृष्ठभूमि में प्रमाता प्रमेय आदि समस्त विश्व का उद्भव होने लगता है। तदनन्तर विश्वोपसंहार न होने तक यह लीला चलती रहती है। परिशेष में अनुग्रह शक्ति का संचार होने के अनन्तर तिरोधान शक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है एवं विश्व पूर्णस्वरूप आत्मा में प्रत्याहृत हो जाता है।

यह अकुल समुद्र अनन्त अपार बोधरूप है। तिरोधान शक्ति की प्राधान्यता रहने तक इसमें तरंग का उदय नहीं होता, किन्तु जब उर्मि (तरंग) का उदय होता है, तब तिरोधान शक्ति स्तिमित हो जाती है। इस उर्मि अवस्था को अनुग्रह कहते हैं। यह स्पन्दरूप है। जो जीवात्मा इसके तनिक भी संस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त करते हैं, उनके जीवन में परिवर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है। यह परिवर्तन जीवात्मा को क्रमशः परमस्थिति की ओर आकर्षित करता रहता है। यह स्पन्द महाबोध समुद्र की एक तरंग मात्र है और यही चित्शक्ति का उन्मेष भी है। चित्शक्ति की जाग्रदावस्था में समग्र संसार एवं उसके मूल-भूत अविद्याजनित कार्य (विकल्प) का अवसान हो जाता है।

जीव अनादि काल से पशु स्थिति में विकल्प राज्य में निवास कर रहा है। उन्मेष प्राप्त चित्शक्ति अनुग्रह काल में जीव का स्पर्श करती है। इस स्पर्श के कारण उसकी सत्ता में परिवर्त्तन होने लगता है। उसकी विकल्प दृष्टि स्तिमित होने लगती है। चित्शक्ति सर्वप्रथम काल का ग्रसन करती है। काल ही जीवगत विकल्प का कारण है। इसी कारण शक्ति को कालसंकर्षिणी भी कहा गया है। काल ग्रसन प्रक्रिया पूर्ण होते ही जीव विकल्प मुक्त हो जाता है। यह प्रक्रिया क्रमिक रूप से सम्पन्न होती है। सर्वप्रथम प्रमेय शुद्ध होता है। प्रमेय शुद्धि के अभाव में जीव का रूपान्तर ही नहीं हो सकता। प्रमेय शुद्धि की अवस्था में समस्त विश्व स्वात्मसत्ता के अन्तर्गत उपलब्ध होने लगता है।

देहाभिमान की मुक्ति ही प्रमेय शुद्धि रूपा है। प्रमेय शुद्धि की अवस्था में बाह्य आभास भी शेष नहीं रहता। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में जगत् रहता है, उसका बोध भी रहता है; तथापि यह बोध (जगत् बोध) बाहर न होकर अपनी सत्ता के अन्तर्गत होता है। जैसे दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब दर्पण से अतिरिक्त होने पर भी, दर्पण के अन्दर होने के कारण, उसके अन्तर्गत ही हैं, उसी प्रकार चित्शक्ति के प्राथमिक उन्मेष के समय बाह्य आभास नहीं रहता। प्रमेय बोध रहता है, परन्तु बाह्यरूपेण नहीं रहता। जाग्रत चित्शक्ति का स्वरूप बुभुक्षित स्वरूप है। वह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बाह्यजगत् की बाह्यसत्ता को आत्मसात कर लेती है। यह अनुग्रह शक्ति का प्रथम निदर्शन है। इसी तथ्य को आचार्य शंकर, दक्षिणामूर्ति स्त्रोत्र में प्रकट करते हैं।

"विश्वं दर्पण दृश्यमाननगरीस्तुल्यं निजान्तर्गतं"।

अतः सिद्धान्त यह है कि चित्शक्ति बाह्य जगत को ग्रसकर अपने अन्दर स्थापित करती है। इस प्रकार प्रमेयरूपी जगत् का लोप नहीं होता, अपितु वह इन्द्रिय ग्राह्य विषय रुप प्रतिभात न होकर आत्मरूप के अन्तर्गत प्रतिभात होने लगता है।

विसर्ग शक्ति के कारण विश्व आत्मस्वरूप के बहिः देश में प्रतिभासित होता है। विन्दु के प्रभाव से वह आत्मस्वरूप के अन्तर्गत भाषित होने लगता है। इस प्रकार चित्शक्ति विषयरूप बाह्यजगत् का ग्रास करने के उपरान्त तृप्त होती है। इस प्रक्रिया से विषयों का विषयत्व विनष्ट हो जाता है। बिषयभोग की सत्ता नहीं रह जाती। इस अवस्था में विषय ज्ञान रागात्मक हो जाता है, अर्थात् उसे पराशक्ति निर्विकल्पभाव से अनुभव करती है। तांत्रिक दृष्टि के अनुसार यह वीर का भोग है। यह तुरीय दशा के सान है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति स्थितियों में भोग निवृत्ति नहीं हो सकती। इस स्थिति के (तुरीय स्थिति के) भोक्ता को वीरेश्वर अथवा महावीर कहते हैं। शिवसूत्र में इस कोटि के भोक्ता को त्रितय भोक्ता कहा गया है। साधारण भोगरत भोक्ता को पशु कहते हैं। इस प्रकार का तुरीयात्मक भोग ही यथार्थ भगवद् भोग है। इस स्थिति में प्रत्येक इन्द्रियां भगवद् सेवन में रत हो जाती हैं। वीरेश्वर का भोग ही यथार्थ भगवद् उपासना होने के कारण सर्वावस्था में अविचलित रहता है। आचार्य शंकर कहते हैं—

"यद्यद् कर्म करोमितद्दखिलं शम्भो तवाराधनम्"।

अब प्रत्येक कर्म उनकी आराधना का रूप धारण कर लेते हैं।

वीरभोग की समाप्ति के अनन्तर तृप्ति का उदय होना अवश्यंभावी है। यही अन्तर्मुख दशा का सूचक भी है। इन्द्रियवर्ग इस प्रकार के वीरभोग से पूर्ण परितृप्त होकर चिदाकाश रूपी भैरवनाथ के साथ आलिंगित होकर अभिन्नता प्राप्त करते हैं। जब तक इन्द्रियों में सामान्य विषयभोग की इच्छा विद्यमान है, तब तक इस प्रकार की आलिंगित दशा का उदय नहीं हो सकता। आलिंगित दशा में विषय भोग तथा उसकी आकांक्षा की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। करणवर्ग प्रमातृरूप में प्रविष्ट होकर प्रमाता से एकत्व प्राप्त करते हैं। अब श्वास-प्रश्वास की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, अर्थात् प्रमाण तथा प्रमेय का सम्बन्ध भी नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रह जाता। प्रकारान्तर से इस अवस्था में मन एवं प्राण की क्रिया भी निवृत्त हो जाती है।

प्रमाता मूलतः एक ही है। इसे परप्रमाता कहते हैं। इसी का स्वरूप परासंवित है। जिस अवस्था का यहां वर्णन किया गया है, उसे प्राचीन आचार्यगण महायोग की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में सूर्य तथा चन्द्र, दोनों ही अन्तर्हित हो जाते हैं। चन्द्र (मन) अर्थात् प्रमाण एवं प्रमेय का संघर्षरूप, सूर्य (प्राण) अर्थात् प्राण और अपान संघर्ष रूप। इस समय ज्ञान एवं क्रिया—दोनों अस्त हो जाते हैं। यह सामयिक स्थिति मात्र है। यहां प्रमाण एवं प्रमेय मिलित होकर एक हो जाते हैं, तथा यह एकीभूतता प्रमाता मे विलीन हो जाती है। प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमाता की त्रिपुटी का भेदावसान हो जाता है। इसी समय ७२००० नाड़ीगत श्वास-प्रश्वास की क्रिया विनिवृत्त हो जाने के कारण प्राणापान में साम्यता आ जाती है। इसी का नाम है अध्यात्मिक शिवरात्रि। शिवरात्रि में जागरण का नियम है। अतः इस स्थिति में योगी जाग्रत होकर स्वरूपानुसन्धान में प्रवृत्त हो जाता है। यह योगी के लिऐ परीक्षा विन्दु है। इस स्थिति से भी च्युति की आशंका रह जाती है। इस अवस्था में स्वरूपानुसन्धान में प्रवृत्ति न रहने से महामाया स्थिति में पतन हो जाता है, परन्तु स्वरूपानुसन्धान में अक्षुण्ण प्रवृत्ति होने की अवस्था में योगीगण निरावरण प्रकाशरूप परासंवित पर्यन्त उत्थान प्राप्त करते हैं। यही जीव का परम लक्ष्य है। आध्यात्मिक शिवरात्रि को ही "अनाख्य दशा' भी कहा जाता है। अनाख्य दशा से प्रकाशरुप परासंवित्त पर्यन्त के उत्थान के समय, यही अनाख्यदशा भासा रुप से स्वात्मप्रकाश करती है।

अनाख्य से भासा पर्यन्त की यात्रा हेतु अनेक मार्गों का विधान है। सर्वप्रथम प्रमेय संस्कार से मुक्त होना चाहिये। तदनन्तर प्रमातृभाव में प्रवेश प्राप्त होता है। सर्वान्त में परप्रमातृभावोदय अवश्यंम्भावी है। यही परम-शिव दशा है। अब उर्ध्वगति से प्रमाता विभिन्न अवस्थायें आयत्त करता रहता है— यथा अदित्यावस्था, रुद्रावस्था, भैरवावस्था आदि। जब रुद्रावस्था के अनन्तर भैरवावस्था का उदय होता है, तब सर्वाग्र में महाकाल भैरव उदित होते हैं। तदनन्तर काल संकर्षण का व्यापार पूर्ण हो जाने पर विश्वजननी तथा जगदम्बा परासंवित् का आविर्भाव होता है। यही परप्रमातृरूपावस्था है। परमशिव इसी के नामान्तर हैं। परासंवित की भी दो स्थितियां हैं। प्रथम कृश तथा द्वितीय पूर्ण। जैसे कालचक्र में प्रतिमास शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष का आवर्त्तन चलता है, वैसे ही परमस्थिति में सर्वप्रथम कृश दशा का अनुभव होता है। कृश दशा में कलारुप महाशक्ति प्रायः निवृत्त हो जाती है। एकमात्र अमाकला अव-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शिष्ट रहती है। शेष स्थिति में सभी कलायें निवृत्त हो जाती हैं। पूर्ण दशा में सभी कलाओं का पूर्णविकास सम्पादित होता है। चित्कला (चित्शक्ति) का पूर्ण विकास होते ही, महाशक्ति जाग उठती है।

प्रमेयशुद्धि, तदनन्तर प्रमाणशुद्धि, सर्वान्त में प्रमातृशुद्धि होने के पश्चात् पूर्णदशा का प्रगटीकरण होता है। ज्ञानमार्गी साधक शक्तिरहित ब्रह्मस्वरूप प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। यह शक्तिरहित ब्रह्म जागतिक दृष्टिकोणानुसार शक्तिहीन होने पर भी वस्तुतः निष्कल नहीं हैं, कारण अमाकाला उनमें सदा विद्यमान रहती है। कौलमार्गी अद्वैत भावापन्न शक्तिसाधक के अतिरिक्त महाशक्ति की पूर्णदशा का अनुभव कोई नहीं कर सकता। जागरण की पूर्णावस्था में सब कुछ चिन्मय हो जाता है। प्रमेयशुद्धि के साथ-साथ बाह्यज्ञान के चिन्मयत्व का संकेत मिलने लगता है। इस प्रकार प्रमाण तथा प्रमाता की शुद्धि के साथ ही पूर्ण जाग्रत दशा प्रस्फुटित हो जाती है।

इस जागरण के अनन्तर महाकाल और महाशक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध परिलक्षित होता है। काल के उर्ध्व में महाकाल तथा महाकाल के उर्ध्वदेश में स्वयं संवित् विद्यमान है। अतः संवित् प्राप्ति के साथ ही काल एवं महाकाल की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। यही पूर्णत्व है।

चैतन्य तथा प्राण का सम्बन्ध

संवित, चित्शक्ति का ही नामान्तर है। चित् रूप में शक्ति तथा चैतन्य एक तत्व नहीं होता। कारण यह है कि चित् रहने पर भी चैतन्य की सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ जड़ पदार्थ चैतन्यता रहित होते हैं। चैतन्यरहित होने पर भी इनमें चित्सत्ता विद्यमान रहती है। समग्र विश्व में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जिसमें चित्सत्ता न हो। जड़ तथा चैतन्य सत्ता में चित् विद्यमान है, तथापि चैतन्य पदार्थों में चित् का प्रतिफलन होता है और जड़

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पदार्थ में चित् का कोई भी प्रतिफलन नहीं होता। सूर्य की किरण सर्वत्र सम-भाव से पड़ती रहती है, परन्तु स्वच्छ जलराशि तथा स्वच्छ दर्पणादि आधार में वह तेजरूप से प्रतिफलित होती है। चित्शक्ति का प्रतिफलन ही शक्ति चैतन्य का द्योतक है। जब तक संवित् शक्ति अपने संवित् रूप में रहती है, तब तक सृष्टि का उदय नहीं हो सकता। तांत्रिक सिद्धान्तानुसार "अहं" का द्योतन जिस प्रकार से होता है, उसके एक प्रान्तर में "अ" की सत्ता है। "अ" विशुद्ध प्रकाशमयी चिच्छक्ति का रूप है। अहं के अन्य प्रान्तर में "ह" की भी सत्ता विद्यमान रहती है। "ह" को विमर्श कला भी कहा जाता है। प्रकाश से विमर्श पर्यन्त मातृका राशि का विस्तार रहता है। अहंपदवाच्य इसी विमर्श के द्वारा प्राण का उदय होता है। प्राण के विकास द्वारा जड़ देह में अह बोध अथवा देहात्मबोध का अनुभव किया जाता है। प्रथम अवस्था है पूर्ण अहं। इस स्थिति में समस्त विश्व इस अहं में ही विलीन रहता है, अतएव इसे पूर्ण अहं कहते हैं। तदनन्तर भगवान् अपने स्वातंत्र्यवशात् स्वयं का संकोच करते हैं और एक कल्पित आवरण की उद्भावना करते हैं। इस अवस्था में जिस आदि सृष्टि स्थिति का उदय होता है, उसमें भी एक त्रिपुटी की सत्ता रहती है। एक ओर परिच्छिन्न माया प्रमाता रूप चिदणु (जीव–पशु) का उदय होता है तथा अन्य दिशा में व्यापक आवरण की सत्ता परिलक्षित होने लगती है। इस स्थिति में अणुरूपी जीव ही द्रष्टा है। यह विशाल व्यापक आवरण ही महाशून्य (दृश्य) है। दोनों का, अर्थात् द्रष्टा एवं दृश्य का सम्बन्ध दृष्टि द्वारा ही स्थापित हो सकता है। यही त्रिपुटी है। अभी भी प्राण का उदय नहीं होता। यह देह रहित अवस्था है, कारण अभी देह सम्बन्ध नहीं है। इस स्थिति के पश्चात् इस महाशून्य में परावाक् की प्रेरणा से अनन्त दृश्य समूह परिलक्षित होने लगते हैं। इस अवस्था में चिदणुरूप द्रष्टा इन्हे देखते-देखते, किसी एक दृश्य से आकृष्ट हो, उसे आलिंगन करने की चेष्टा करने लगता है। इसी व्यापार के अन्तर्गत प्रथम क्षण में प्राण का आविर्भाव होता है। यहां जिस दृश्य का आलिंगन करने का तथ्य कहा गया है, वह प्रकारान्तर से देहरूपी दृश्य का वरण है। देहरूपी दृश्य का वरण करते ही आविर्भाव हो जाता है। अब प्राण क्रमशः विकसित होने लगता है।

चैतन्य के साथ प्राण का संम्बन्ध अवश्य है, किन्तु विशुद्ध चित् के साथ प्राण का कोई भी संम्बन्ध नहीं है। जहाँ विशुद्ध चित् (प्रकाश) क्रमशः विमर्श की ओर अभिमुख होकर सृष्टिधारा में प्रवाहित होने लगता है, वहां यद्यपि चैतन्य नहीं है, तथापि चैतन्याभिमुख होने के लिये प्रवाह की एक धारा विद्य-मान रहती है। प्राण की सत्ता सृष्टिसचार के कई स्तरो के पश्चात् कार्यशील

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होती है। सृष्टि का मूल है महाकाश। तदनन्तर वायु कार्यरत है। यही वायु प्राणरुप में आत्मप्रकाश करती है। यह भी स्वयम्प्रकाश है, तथापि सृष्टि से अतीत अवस्थ में इसका कोई सन्धान नहीं मिलता।

शुद्धचित् अव्यक्त समुद्ररुप है। जब सद्, सत् चिद्रुप से स्फुरित होने लगता है तभी प्रकाश (चित्) की सूचना (व्यक्तता) प्राप्त होती है। इसी प्रकाश से प्रकाशान्तर (अन्य प्रकाश) का उदय होता है और आनन्दाभिव्यक्ति होने लगती है। इसी आनन्द के माध्यम से इच्छादि का आविर्भाव होने के कारण समस्त विश्व का प्रतिफलन होता है। इच्छा का तात्पर्य है–इच्छा–ज्ञान–क्रिया रुप त्रिपुटि। यहां तक सृष्टि का उन्मेष होने के पश्चात् अन्त्यकला रुप विमर्श शक्तिस्त्रोत की धारा को निरुद्ध कर देता है। यही पूर्ण अहं है, जो अपने आप में स्वयं क्रीड़ाशील रहता है। इसी पूर्णाहं से, पूर्णाहं के स्वतंत्र्य से इदं रुप सृष्टि का उदय होता है। यह है महाकाल का राज्य। अभी अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान रुप त्रिकाल की कोई भी सत्ता अवशिष्ट नहीं रहती। अथच समस्त विश्व इदंरुप से, स्वात्मातिरिक्त दृश्य रुप से प्रकाशित होता रहता है। अहं ही इदं रूप से दृश्य बन जाता है। तदनन्तर ब्राह्मी सृष्टि कालावरण में (अतीत, अनागत, वर्त्तमान रुप में) प्रकाशित होती है, जो काल-राज्य के अन्तर्गत कही गयी है।

गुरुतत्त्व

योग्य गुरु—जो गुरु शिष्य के प्राण की गति को जान कर, उसे तदनुसार उपयुक्त पथ की ओर संचालित करते हैं, वे ही योग्य गुरु हैं। ऐसे गुरु किसी एक निर्धारित नियम का अनुवर्त्तन अथवा पालन नहीं करते। शिष्य की योग्यता तथा संस्कार के अनुसार उसे पथ पर ले जाते हैं। कभी-कभी वे उसे आगे अग्रसारित करते हैं, कभी-कभी उसे आगे बढ़ने से रोक लेते हैं। जैसे रामकृष्णदेव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ने विवेकानन्द को भगवद् सेवा (जीव सेवा) रुपी कर्म के लिये नियोजित करने हेतु उनका ब्रह्मद्वार सामयिक रुप से अवरुद्ध कर दिया था। ऐसे योग्यगुरु आवश्यकतानुसार शिष्य को पीछे भी खींच लेते हैं। यह सब शिष्य के कल्याण के लिये ही किया जाता है। गुरुगण भवसागर के पार उतारने की करुणा से संम्पृक्त होते हैं। वे ही शिष्य के कर्णधार तथा उसकी जीवन नौका के संचालक, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी हैं। शिष्य के कल्याणार्थ अभीप्सित दिशा में नौका को घुमाते रहते हैं। उन्हें शिष्य के प्रत्येक स्पन्दन का ज्ञान रहता है। वे शिष्य पर निर्निमेष दृष्टि रखते हैं और उसका कल्याण करते रहते हैं। योग्य गुरु का संस्पर्श तभी प्राप्त होता है जब जीवन की गति अनुकूल हो जाती है।

अन्तरस्थ गुरु—योग्य गुरु तो वाह्य गुरु होते हैं। शास्त्रों में अन्तर्गुरु का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अन्तर्गुरु सतत् शिष्य के हृदय में स्थित रहकर उसकी इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को प्रेरित करते रहते हैं। इनका परिचय सदा नहीं मिलता। प्राण की गति जब विभिन्न केन्दों में पहुँचती है, तब उन केन्द्रों से उनके कार्यों का सम्पादन स्वयमेव होने लगता है। ये केन्द्र विज्ञ पुरुषों के लिये भी अज्ञात रह जाते हैं। जो प्राण की इस गति को विभिन्न केन्द्रों तक ले जाते हैं, वे ही यथार्थ अन्तर्गुरु कहे जाते हैं। वे सर्वज्ञ हैं। सभी केन्द्रों के ज्ञाता हैं। जिस शरीर का अवलम्बन लेकर प्राण केन्द्रों की क्रिया होती रहती है, उस शरीर में निवास करने वाला देहाभिमानी जीव इस सम्बन्ध में, केन्द्रों एवं प्राणक्रिया के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता। न जानने पर भी क्रिया चलती ही रहती है। अज्ञात आसन, मुद्रा, मन्त्र स्फुरण स्वयमेव होता रहता है। इस अवस्था में अज्ञानी भी ज्ञान चर्चा करता है, सभी तत्त्व प्रकट हो जाते हैं, नाना साकार दर्शन होने लगते हैं। पहले यह अज्ञातरूपेण होता है, विकास के अनन्तर ज्ञात रूप से होने लगता है। मन्त्र, तत्त्व, इष्ट आदि स्वतः प्रकट हो जाते हैं। जप और ध्यान के बारे में अन्तर्गुरु चित्ताकाश में आकर सब कुछ समझा देते हैं। इन अन्तर्गुरु की लीला अपरम्पार है।

धारा—साधक की प्रकृति, जन्मान्तर संस्कार, रुचि, सामर्थ्य तथा अधिकारानुसार उसके साधनपथ एवं अध्यात्मजीवन की धारा का निर्धारण गुरु करते हैं। साधक स्वयं अपनी धारा को नहीं जानता। रोगी अपने रोग का निदान स्वयं नहीं कर सकता। अतः गुरु पर निर्भरता आवश्यक है। गुरु ही सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होते हैं, अतः उनकी कृपा के बिना अल्पज्ञ जीव अपनी धारा का निर्धारण नहीं कर सकता। साधक का कर्त्तव्य है कि वह बिना विचारे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुरु की आज्ञा का पालन करे। तैलधारा के अविच्छिन्न प्रवाहरूप से, अखण्ड भाव से, गुरु प्रदत्त साधना का विकास करते-करते अग्रसर होते रहना चाहिये। लक्ष्य को अखण्ड तत्व में उपनीत करना आवश्यक है। खण्डसत्ता की ओर लक्ष्य रहने से अखण्ड की उपलब्धि नहीं हो सकती। साधक कीं स्वचेष्टा भी अखण्ड होनी चाहिये। चेष्टाधारा का एक सूत्र भी विच्छिन्न होने से अखण्ड की अनुग्रह प्राप्ति में वाधा आती है। यहाँ अटूट निष्ठा आवश्यक है। अनेक दिनों से संचित साधना संस्कार सामयिक असावधानी के चलते बाह्यजगत की विरोधी शक्ति से अभिभूत हो जाते हैं। अतः व्यवधान का न होना तथा नैरन्तर्य का न टूटना ही लक्ष्य होना चाहिये।

साधना करते-करते किसी महान् क्षण में वह महामंगलमयी सत्ता साधक के अन्दर अभिन्नतया प्रकाशित हो जाती है। यह सत्ता सभी साधनो से अगोचर है। इसे कोई भी पकड़ नहीं सकता, तथापि कृपापरवश हो यह स्वयं अपने को पकड़ा देती है। यह शक्ति एकमात्र गुरु में है। गुरु ही धारा का निर्देश करते हैं। गुरुशक्ति साधक को स्वभाव की गति में प्ररित करती है। एक बार इस कृपास्पर्श की प्राप्ति के अनन्तर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। यद्यपि यह क्षणमात्र की प्रक्रिया है, तथापि इस एक क्षण में अनन्त क्षणों की सत्ता समाहित हो जाती है।

ग्रन्थि—गुरुतत्व की पर्यालोचना करते-करते ग्रंथि का भी वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। ग्रंथि के कारण एकाधिक वस्तु इस प्रकार से ग्रथित हो जाती हैं कि उन्हें पृथक् करना कठिन सा हो जाता है। मनुष्य की देह प्रधान प्रकृति के मूल में भी दो परस्पर विरुद्ध तथा पृथक् तत्व का सम्मिलन ग्रन्थि के द्वारा कर दिया गया है। यह है चित् अथवा पुरुष। प्रकाश तथा सत्वगुण प्रधान प्रकृति, जो स्वच्छ है, तथापि उसमें अचित्‌रूपता भी विद्यमान है। प्रकृति अपने गर्भ में सत्व, रजस् तथा तमस को छिपाये रहती है। वह इन तीनों के एकीभूत रूप में चिद्रूप दर्पण में ही प्रतिबिम्बित होने लगती है। इसके मूल में चिद्‌रूप प्रकाश की सत्ता रहती है। इस के उपरी तल पर सत्वगुणात्मक प्रकृतिरुप अचित् सत्ता भी घनिष्टभावेन संयुक्त रहती है। सत्वगुण की स्वच्छावस्था में यह चिदालोक से आलोकित होता है तथा चित्त की स्वच्छावस्था में सत्व को अपने साथ अभिन्नरुप से धारण करता है। इसका कारण है (स्थूल दृष्टिकोणानुसार) अविवेक अथवा अज्ञान। चरम दृष्टिकोणानुसार इसका कारण है परमेश्वर की प्राकृतिक लीला में प्रवेश करने की इच्छा। यही ग्रन्थि-बंधन है, जो चित् एवं अचित् का कल्पित तादात्म्य रुप है। यही प्रतिबिम्ब-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भूत चित्तबीज समस्त संसारोदय का कारण, हेतु है। इस बीज के अंकुरण से शाखा, प्रशाखा रुप जीवसंसार का उदय होने लगता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत् चित्त के प्रत्येक स्तर पर बाह्य सत्ता का आवरण आच्छादित होने लगता है और यह आवरण मूल चित्तसत्ता पर पूर्णतः छा जाता है। इस प्रकार स्वात्मा में ही समग्र जड़ जगत् ग्रथित हो गया है। यह बन्धन शिथिल होता है गुरु कृपा दृष्टि पड़ने से। अब जड़सत्ता का केन्द्रियसत्ता से पृथ्कीकरण होने लगता है। बाह्यस्तर से पृथ्कीकरण हो जाने पर भी आभ्यंन्तर में बीजरुपी सत्ता निःशेष नहीं होती। विवेक ज्ञानाग्नि इस मूल बीज को दग्ध करती है। अब अचिद्रुप सत्व प्रधान प्रकृति क्रमशः चिद्रुप पुरुष से अलग होने लगती है। यही ग्रन्थिभेदन है। इस अवस्था में २ पृथक् स्थिति एकरुप नहीं रह जाती। जड़ तत्व जड़रुप में और चेतन-चेतन रुप में विविक्त हो जाता है। ग्रंथिबन्धन का फल है संसार। ग्रन्थिभेदन का फल है संसार की निवृत्ति। साधक का साधना का एकमात्र मापदण्ड है ग्रंथिभेदन रुप कर्म। जिस साधना द्वारा चित् एवं अचित् का तादात्म्य नष्ट नहीं होता, वह यथार्थ साधना नहीं है।

स्वगुरु एवं जगद्गुरु—स्वगुरु तथा जगद्गुरु के मध्य का भेद इस स्थान पर विवेचनीय है। प्रत्येक शिष्य की दृष्टि में अपने गुरु मनुष्य देह युक्त व्यक्ति हैं, परन्तु जगद्गुरु स्वयं भगवान हैं। शास्त्रों के अनुसार स्वगुरु तथा जगद्गुरु के एकीभाव से ही साधना में सिद्धि प्राप्त होती है। अन्य दृष्टिकोणानुसार भगवान भी गुरु नहीं हो सकते। मनुष्य भी गुरु नहीं हो सकता, क्यों कि वह अज्ञानाधीन है। देहधारी अज्ञान से पूर्ण मुक्त हो ही नहीं सकता। भगवान सर्व संस्कारों से रहित हैं, अतएव वे गुरु नहीं हो सकते। कारण, गुरु भाव भी एक प्रकार का संस्कार मात्र है। अज्ञानसागर में डूब रहे प्राणी को उबारने की इच्छा, अथवा करुणा भी एक वासना ही है। यद्यपि यह शुद्ध वासना है, तथापि वासना ही है। वासनाशून्य स्थिति प्राप्त भगवान कैसे गुरु हो सकते हैं? अतः जैसे मनुष्य में गुरु होने की योग्यता नहीं है, वैसे ही भगवान भी इस योग्य नहीं हैं। सत्य तो यह है कि भगवान तथा उच्चावस्था प्राप्त मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध से ही गुरुपद का प्रकाशन होता है। उस स्थिति में मनुष्य रुप आधार में भगवत् शक्ति का पूर्ण योग हो जाता है। अतएव मनुष्य में गुरुत्व का संचार हो जाता है। अब मनुष्य रूप आधार में भगवत् शक्ति का पूर्ण योग हो जाने के कारण उसमें जीवोद्धार शक्ति का सम्यक् संचार हो जाता है। मनुष्य का सम्पर्क भगवत् सत्ता से एकीभूत रुप में होते जाने के कारण—भगवत् स्वरुप में महाकरुणा का उद्रेक हो जाता है। इसी कारण भगवान को ही एकमात्र गुरु कहते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अब व्यवहार भूमि में मनुष्य गुरु तथा भगवान रुपी गुरु का पार्थक्य अवगत होने लगता है। अतः शिष्य को अपने स्वगुरु में ही जगद्गुरु भगवान की भावना करनी चाहिए। इसी प्रकार विश्वगुरु भगवान को भी स्वगुरु के रुप में स्वीकार करना चाहिए। इस भावना से मनुष्यगुरु की समस्त त्रुटियां शिष्य का स्पर्श नहीं कर सकती। साथ ही ईश्वरीय दिव्य ज्ञान मनुष्य रुपी गुरु के चित्त में प्रतिफलित होकर शिष्य को उपदेश के रुप में प्राप्त होता है। अतः "मद्गुरुः श्री जगद्गुरुः" की उक्ति यथार्थ एवं सत्य है।

शिष्य की गति—गुरु की स्थिति पर्यन्त ही शिष्य की गति होती है। शिष्य एवं गुरु दोनों ही भाव सापेक्ष हैं। गुरुभाव शिष्याधीन हैं, तथा शिष्यभाव गुरु के अधीन होता है। गुरु ज्ञानदाता है तथा शिष्य ज्ञान का ग्रहण करने वाला। गुरु का उपदेश तभी सार्थक होगा, जब गुरु शिष्य की कल्याण कामना से शिष्य को उपदेश दे। इस उपदेश के मूल में गुरु का अहंभाव कार्य करता है। इस उपदेश का प्रभाव इतना अधिक भी हो सकता है कि शिष्य की उर्ध्वगति गुरु के समान हो जाये। इससे यह सिद्ध होता है कि शिष्य की यह उर्ध्वगति आपेक्षिक है। उसकी साधना का चरम फल है, गुरु की गति पर्यन्त आरोहण। चरमफल होने पर भी इसे परमलक्ष्य नहीं कह सकते। परमलक्ष्य कभी भी भाव की सीमा में आबद्ध नहीं रह सकता। परमलक्ष्य की अवस्था में शिष्य शिष्यरुप नहीं रह जाता तथा गुरु भी गुरुरुप नहीं रह जाते। दोनों ही भावातीत सत्ता में अद्वयरुपेण विराजित हो जाते हैं। प्रश्न उत्थित होता है कि क्या इस अद्वय स्तर में भी गुरु से उपदेश ग्रहण किया जा सकता है? भावावलम्बन की स्थिति प्राप्त करने के अनन्तर भाव का उल्लंघन करने का सामर्थ शेष रह जाता है? इसका समाधान यह है कि यदि गुरु स्वयं को गुरु मानकर शिष्य को उपदेश देता है, उस स्थिति में यह उपदेश शिष्य को गुरुभाव पर्यन्त उर्ध्वोत्थित कर सकता है। एतद्विपरीत यदि गुरु में गुरुत्व का अभिमान शेष न रहे, गुरु भावातीत अखण्ड से एक होकर उपदेश करे, उस स्थिति में गुरु का उपदेश भावातीत वाणी रुप हो जाता है। यही अखण्ड का आवाहन अथवा असीम की पुकार है। ऐसी वाणी आधार विशेष व्यक्ति में प्रकटित होती है। उस व्यक्ति में गुरुत्व का अहंभाव न होने के कारण, यह वाणी उस व्यक्ति को भाव विशेष से बांधने में समर्थ नहीं होती, प्रत्युत् मुक्त अनन्तानन्त आत्मस्वरुप में प्रतिष्ठित कर देती है। यह ऐसी अवस्था है, जहां शब्द की गति नहीं है, ऐसा स्वरुप का प्रकाश है जहां कोई चेष्टा नहीं है। वर्णनातीत है। अखण्ड आत्मस्वरुप सत्ता से स्वतः स्फूर्त प्रेरणा शब्दरुप से अथवा शब्दातीत रुप से, भावरुप से आती रहती हैं। यह प्रेरणा व्यक्ति को किसी भाव से आबद्ध नहीं करती। किसी सीमा से भी आबद्ध नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करती। वस्तुतः यही प्रकृत गुरु का लक्षण है। प्रकृत गुरु गुरुपद में प्रतिष्ठित हैं, तथापि उनमें गुरुभाव नहीं है। वे भावातीत गुरु हैं। इस अवस्था में मात्र एक का ही भान होता है। अन्य का भान ही नहीं होता। अतः शिष्य का प्रश्न एवं गुरु का समाधान रुप व्यापार नहीं रहता। अब जो श्रोता है, वही वक्ता। वास्तव में न तो कोई वक्ता है, न कोई श्रोता। एक ही स्वयं में स्वयं के स्पन्दन से आलोड़ित है।

गुरूशक्ति तथा प्रयत्न—कृपा शब्द से गुरुशक्ति का ही तात्पर्य ध्वनित होता है। यह ईश्वर की स्वशक्ति है। इसका प्रयोग आर्त्त तथा अज्ञानी जीवों के उद्धरार्थ किया जाता है। प्रयत्न अथवा पुरुषाकार का अर्थ है—मनुष्य का व्यक्तिगत उद्यम। द्वैत दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि व्यक्तिगत उद्यम तथा कृपा, दोनों ही परस्पर सापेक्षता रखते हैं। गुरुकृपा केवल कृपा मात्र नहीं है। कृपा का संचार होने पर भी (शिष्य में धारणा शक्ति का अभाव होने के कारण) कृपा अपना कार्य नहीं कर सकती। शिष्यरुपी आधार का मुख्य कार्य है धारण करना। गुरु से वर्षित कृपा को शिष्य सम्यक् रुप में धारण करने के लिए प्रतिबद्ध है, अन्यथा कृपा शक्ति शिथिल पड़ जाती है। पक्षान्तर से आधार अत्यन्त प्रबल हो, धारणा सामर्थ भी उच्चतर हो, तथापि कृपाशक्ति का अभाव है, ऐसी स्थिति में मात्र आधार शक्ति से फल प्रसव नहीं हो सकता। यही साधारण मान्यता है। अतः गुरु का उत्तरदायित्व तभी पूर्ण हो सकेगा जबकि वे साधक में कृपा संचार के साथ धारणा सम्बन्धित आधारगत योग्यता की स्थापना भी कर सकेंगे। गुरु ज्ञानालोक प्रदान करते हैं, तथापि शिष्य की दृष्टि अन्धकारावद्ध है, तिमिर ग्रसित है। इस अवस्था में सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाला ज्ञानालोक क्या कर सकेगा? अतः मात्र आलोकदान से ही गुरु का दायित्व समाप्त नहीं होता। आलोकदान के साथ-साथ आलोक ग्राहिका क्षमता का भी संचार करना होगा। कृपा एवं प्रयत्न पारस्परिक रुप से एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। भाव दृष्टि से कृपा की महिमा अपरम्पार है। अन्य दृष्टि के अनुसार पुरुषकार की न्यूनता को भी कृपा दूर कर देती है। पक्षान्तर से पुरुषकार के मूल में इच्छाशक्ति तथा कृपा के मूल में गुरुसत्ता कार्य करती है। अन्तरंग दृष्टिकोणानुसार गुरुशक्ति ही इच्छाशक्ति का मूल है। वास्तव में दोनों अभिन्न हैं, तथापि गुरुशक्ति से ही इच्छाशक्ति निर्गत होती है। इच्छाशक्ति की तीव्रता गुरुशक्ति पर आधारित है। गुरुशक्ति ही महाशक्ति रुपा है। संकल्प–विकल्प स्थिति में इच्छा शक्ति को जीव शक्ति कहते हैं। शुद्ध संकल्प रूप में इच्छा शक्ति ही ईश्वर शक्ति है। एक संकल्प में अन्य संकल्प का मिश्रण होना ही विकल्प कहा जाता है। विकल्पहीन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तथा संशय रहित स्थिति सत्य संकल्प का रूप धारण करते-करते ईश्वर शक्ति का स्वरुप धारण कर लेती है। प्रथम में रजोगुण तथा तमोगुण की क्रिया है। द्वितीय अवस्था में मात्र निर्मल सत्व का स्वरुप परिलक्षित होता है। महाशक्ति इच्छाहीन है। महाशक्ति को इच्छारहित पूर्णस्वातंत्र्य स्थिति कहते हैं। अतः गुरुशक्ति एवं इच्छाशक्ति की आधारभूता है स्वयंप्रकाश महाशक्ति।

गुरू की स्थिति—मूल में एक अखण्ड सत्य विद्यमान है और गुरु एवं शिष्य भाव का आरोपण इसी अखण्ड सत्य पर आधारित है। इस कारण कुछ विद्वान गुरु-शिष्य सम्बन्ध को कल्पित तथा अनावश्यक कहते हैं। इस प्रकार के विद्वान गुरू-शिष्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। तथापि इन्होंने गुरु-शिष्य सम्बन्ध को कल्पित तथा अनावश्यक कह कर एक प्रकार के सत्य का ही उपदेश दिया है। इस दृष्टिकोण से उपदेशक के रुप में वे स्वयं गुरुपद वाच्य हो जाते हैं। जिनके वचन से संकेत से, व्यवहार से, अथवा प्रेरित शक्ति की सहायता से ज्ञानाविर्भाव होता है, उन्हें भी गुरु कहा जाता है। उन्हें यदि गुरु न भी कहा जाये, तथापि उनका गुरुत्व खण्डित नहीं होता। जब तक संशय है और समाधान अपेक्षित है, तब तक गुरू की सत्ता विद्यमान रहती है। इस कल्पना राज्य में शिष्य भी कल्पित है, गुरु भी कल्पित है, संशय भी कल्पित है, समाधान रुप निश्चयात्मक ज्ञान भी कल्पित है। पूर्ण सत्य में एक अद्वैत तत्व स्वयंम्प्रकाशित रहता है। वहाँ गुरु-शिष्य भाव नहीं है, अथच स्वयं ही गुरु है और स्वयं ही शिष्य। बाह्य गुरु के समान आन्तरिक गुरु की भी सत्ता विद्यमान है। बाह्य गुरु के न रहने पर भी आन्तरिक गुरु नियामक के रुप में व्यक्ति को क्रमशः सत्पथ पर ले जाते हैं। संशय उच्छिन्न होते ही आन्तरिक गुरु की सत्ता विलीन हो जाती है। आत्मा स्वेच्छाविहारी स्थिति में अपने आप में विश्रान्त हो जाता है।

दीक्षा तत्व—शास्त्रमतानुसार आध्यात्मिक उन्नति की हेतु है दीक्षा। जीव स्वरुपतः शिव से अभिन्न है। भगवान स्वयं जीव के रुप में प्रकट हुए हैं। जिस मत के अनुसार जीवस्वरुप नित्य है और भगवत् स्वरुप का स्वांश है, उस मत की यह मान्यता है कि यह स्वांश अनादिकाल से मायिक जगत में चक्कर काट रहा है। अतः जीव को अनादि तथा वहिर्मुख कहते हैं। जीव को नित्य स्वरूप का ज्ञान गुरु कराते हैं। जिस विधि से यह अपरोक्ष ज्ञान शिष्य को प्राप्त होता है, उसे दीक्षा कहा जाता है :—

दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना।
तस्मात् दीक्षेति सा प्रोक्ता ज्ञानिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पापक्षय तथा शिवप्राप्ति ही दीक्षा के लक्षण हैं। यही प्राप्ति दिव्य ज्ञान है। दीक्षा का फल कैवल्य रुप मुक्ति नहीं है। कारण, दीक्षा के अभाव में भी आत्मा एवं अनात्मा का विवेक उत्पन्न होने से, आत्मा कैवल्य भाव को प्राप्त करता है। कैवल्य में आत्मा तथा परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापन नहीं होता। इसी कारण शिवस्वरुप आत्मा का चरम लक्ष्य कैवल्य प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरुदत्त दीक्षा के अभाव में, अन्य किसी उपाय से पौरुष अज्ञान का नाश हो सकना संभव नहीं है। पौरुष अज्ञान का नाश हुए बिना शिवत्वावेश की आशा व्यर्थ है। पौरुष अज्ञान के हटने के पश्चात् बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। बौद्ध अज्ञान हटने ही शिवत्व की प्रतीति हो जाती है। यह दीक्षा से ही संभव है।

शक्तिपात तथा दीक्षा का पारस्परिक पार्थक्य भी विवेचनीय है। शक्तिपात् परमेश्वरानुग्रह का फल है। परमेश्वर के अतिरिक्त अनुग्रह की क्षमता अन्य में नहीं है। सापेक्ष अनुग्रह परमेश्वर से निम्नस्तरीय सत्ताओं द्वारा भी किया जा सकता है, परन्तु परम अनुग्रह की क्षमता एकमात्र भगवान में है। परम अनुग्रह से उच्चतम स्थिति आयत्त होती है। शक्तिपात प्राप्त जीव ही दीक्षा का यथार्थ अधिकारी कहा जाता है। ज्ञानी गुरु अपने दृष्टि निक्षेप मात्र से यह ज्ञात कर लेते हैं कि किस व्यक्ति को किस मात्रा में शक्तिपात की प्राप्ति हो सकी है। शक्तिपात विहीन को दीक्षा देना उचित नहीं है। दीक्षा क्रिया शक्ति का कार्य है। मूलतः यह परिपूर्ण ज्ञान तथा कर्म से अभिन्नरुपेण युक्त चित्शक्ति का कार्य है। सृष्टि से पूर्व विदेहात्मा को भगवान स्वतः दीक्षा देते हैं। इस स्थिति में आधार भेद के तारतम्य से शक्तिपात की मात्रा में न्यूनाधिक्य रहने पर भी ज्ञानशक्ति में भेद नहीं रहता। सृष्टि के प्रांगण में आचार्यगण कर्म शक्ति के सहाय्य से देहधारी जीव पर अनुग्रह करते हैं। इस स्तर में शक्तिपात कृत्य भगवद् सापेक्ष रहता है। शक्तिपात का अर्थ है सम्बन्धित जीव के उत्कर्ष हेतु भगवान कृत् इच्छा। भाग्यशाली व्यक्ति पर दयार्द्र दृष्टि का निक्षेप करते हुए, उसे लक्ष्योन्मुख करने के लिये दीक्षा दी जाती है। दीक्षा द्वारा ज्ञान और क्रिया शक्ति का संचार शिष्यरूपी आधार में होता है। यद्यपि इस अवस्था में ज्ञानशक्ति की मात्रा आंशिक ही रहती है। शिष्य आधार की योग्यता के ही अनुरुप शक्तिपात का तारतम्य रहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि दीक्षा काल में तत्काल (किसी-किसी शिष्य को) पूर्ण ज्ञान व्याप्ति हो जाने पर भी क्रियाशक्ति की न्यूनता के कारण ज्ञान व्याप्ति के साथ संसृष्ट ऐश्वर्य में न्यूनता रहती है। ज्ञान एवं कर्म की परिपूर्णता होने पर ही शिवत्वावस्था की अभिव्यक्ति हो सकेगी। इतिपूर्व शिवत्वावस्था का अभिव्यक्तीकरण असंभव है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यद्यपि मूलतः दीक्षा का सिद्धान्त एक ही है, तथापि प्रणाली अथवा प्रक्रिया के भेद से इसमें भिन्नता का प्रतिफलन होता है। एक दृष्टिकोण के अनुसार मंत्र-दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, दृष्टिदीक्षा तथा उपदेशदीक्षा प्रभृति रूप दीक्षा का संधानप्राप्त होता है। शास्त्रमतानुसार बाह्य तथा आन्तर रूप से दीक्षा द्विविध है। बाह्यदीक्षा अर्थात् क्रिया दीक्षा, आन्तर दीक्षा अर्थात् वेध दीक्षा। दीक्षा में पंचभूत समूह का भी समावेश है। बाह्य दीक्षा पृथ्वी तथा जल के उपकरण स्थान में होती है। आन्तर दीक्षा में पृथ्वी तथा जल की आवश्यकता नहीं है। वहां तेज, वायु, आकाश तथा मन ही अभीप्सित है। चाक्षुषी दीक्षा तेज संचार द्वारा साधित की जाती है। यही दृष्टिदीक्षा है। इसमें गुरु की करुणापूर्ण दृष्टि से निर्गत तेज द्वारा दीक्षा कार्य सम्पन्न होता है। वायु के माध्यम से स्पर्श दीक्षा का संचार किया जाता है। स्पर्श वायु का ही धर्म है। आकाश का धर्म शब्द है। अतः आकाश के गुण शब्द द्वारा साधित दीक्षा को शाब्दिक दीक्षा कहते हैं। मंत्रदीक्षा भी शाब्दिक दीक्षा है। मन के द्वारा दीक्षाकृत्य को ध्यान दीक्षा कहते हैं। चाक्षुषी दीक्षा से स्पर्शदीक्षा सूक्ष्म है। स्पर्श से शब्ददीक्षा सूक्ष्म है। मानस दीक्षा को सर्वातिसूक्ष्म कहते हैं।

क्रियादीक्षा में होमादिक बाह्य क्रियायें निष्पन्न की जाती हैं। सूक्ष्मदीक्षा में बाह्य प्रक्रिया समूह अर्थहीन हो जाते हैं। चाक्षुषी दीक्षा गुरु के दृष्टि मात्र से साधित हो जाती है। स्पर्शदीक्षा काल में गुरु अपने हस्तस्पर्श द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं। मानसिक दीक्षा ही वेध दीक्षा है। गुरु ध्यानस्थ होकर शिष्य को संकल्प शक्ति द्वारा दीक्षा देते हैं। इसका वर्णन योगवाशिष्ठ में किया गया है—

"दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं सहि दैशिकः॥"

सब में कृपा ही मूल है।

दीक्षा फल—दीक्षा के अभाव में पशुत्व निवृत्ति नहीं हो सकती। उक्त है "दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं, शैवं धाम नयत्यपि"। अन्य मतानुसार दीक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। इस मतभेद का तात्पर्य यह है कि यहां दीक्षा के पारम्परिक अर्थ मात्र में विभिन्नता कारण है। कहीं दीक्षा का अर्थ है शक्तिपात् रूपी भगवत् अनुग्रह, किसी ने भगवद् अनुग्रह प्राप्ति के उपाय का नाम दीक्षा रक्खा है। वास्तव में दोनों में कोई आन्तरिक भेद नहीं है। बाह्य क्रिया विशेष के द्वारा मूल अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता। आगम मतानुसार अज्ञान के दो रूप हैं—पौरुष तथा बौद्ध। पौरुष अज्ञान ही मूल अज्ञान रूप है। इसमें पूर्ण अखण्ड सत्ता लीलास्वातंत्र्य के कारण, स्वयं अखण्ड होने पर भी खण्डरूप प्रतीत होने लगती है। वह पूर्ण शक्ति का संकोच करके स्वयं को जीव रूप में प्रकाशित करते हुये अपने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वरूप को विस्मृत कर देती है। जिस अज्ञान के कारण आत्मविस्मृति होती है, उसे पौरुष अज्ञान कहा गया है। भगवान ही तिरोधानरूप निग्रह शक्ति के कारण पौरुष अज्ञान सत्ता को आच्छादित कर देता है। इस अज्ञान ही निवृत्ति योग, तपस्या, उपासना, साधना आदि से नहीं होती। परमेश्वर की कृपा से ही पौरुष अज्ञान उच्छिन्न होता है। परमशिव स्वेच्छा से पशुरूप जीव का स्वरूप धारण करने के अनन्तर स्वेच्छा से ही अपने शिवमयरूप को धारण करते हैं। दोनों में उनका स्वातंत्र्य ही कारण है। यहां प्रश्न उत्थित होता है कि तब साधना की क्या आवश्यकता ? साधना इस आवरण (जीवत्वावरण) को अपसारित कर सकने में असमर्थ है, तथापि साधना द्वारा बुद्धि के मूल अज्ञान के प्रतिबिम्बरूप अज्ञान की निवृत्ति करा देती है। यह भासमान अज्ञान ही बौद्ध अज्ञान है मूल में यदि पौरुष अज्ञान नहीं है, उस अवस्था में बौद्ध अज्ञान की सत्ता हो ही नहीं सकती। आकाश में चन्द्रोदय के अभाव में सरोवर जल में चन्द्रप्रतिबिम्ब नहीं बनता। पौरुष अज्ञान अनादि काल से विद्यमान है। बुद्धि प्रकृति विकार है। अतः देहधारण काल में बुद्धि की अभिव्यक्ति के साथ ही अनादि कालीन पौरुष अज्ञान बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसे ईसाई साधक (Original sin) कहते हैं।

यद्यपि जीव दृष्टि से यही बौद्ध अज्ञान मूलरूप में भासित होता है और पौरुष अज्ञान का कोई सन्धान नहीं मिलता, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह मूल अज्ञान नहीं है। इसे बौद्धज्ञान द्वारा नष्ट किया जा सकता है। योगादि उपाय से आध्यात्मिक उन्नति होती है किन्तु पौरुष अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता। इसके लिये दीक्षा ही एक मात्र उपाय है। पौरुष अज्ञान की निवृत्त के पश्चात् बौद्ध अज्ञान का कोई लेश नहीं रह जाता तथा जीवन्मुक्तावस्था का विकास होने लगता है। वास्तव में कर्म से ज्ञानोदय नहीं होता। ज्ञान साध्य वस्तु नहीं है। वह नित्य सिद्ध एवं स्वप्रकाश तत्त्व है। वह उत्पन्न न होकर आविर्भूत होता है। स्वप्रकाश होकर भी साधक में स्फुरित होता है। साधक का अन्तःकरण विभिन्न आवरणों से आवरित है, अतः नित्यसिद्ध प्रकाश स्फुलिंग उसके पास नहीं पहुंचते। से आवरण रूपी कादाचित्की का नाश होते ही, ज्ञान की किरणे स्वयं अवतीर्ण हो जाती हैं। अतः क्रिया की सार्थकता स्वीकृत है, तथापि क्रिया ज्ञान का कारण नहीं हो सकती।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विविध

बोध—साधना में अग्रसर होते-होते बोध का रूपान्तरण होने लगता है। सामान्य अवस्था में बोध मनुष्य के शरीर, मन तथा इन्द्रिय जगत् के रूप की भावना से व्यक्ति को आबद्ध रखता है। साधक अवस्था में कर्तृत्वाभिमान के हटते ही अनन्त महाशक्ति के स्वातंत्र्य का प्रत्यक्ष होता है। अब साधक का सम्पूर्ण बोध विश्वबोध का रूप धारण करने लगता है। यही है खण्डभाव का अवसान। अब खण्डरूप जीवबोध की सत्ता नहीं रहती। इसे देवबोध की देवरूपता भी कह सकते हैं। बोध ही देवता है। बोध ही चित्शक्ति का उल्लास भी है। आगममतानुसार उत्तराधिकार सम्पन्न साधक किसी बाह्य आचार्य द्वारा चैतन्य प्राणाभिषिक्त नहीं होने पर भी, स्वयं अपने चैतन्य स्वरूप ज्ञान द्वारा दीक्षित होता है। उसकी समस्त सत्ता आत्मस्वरूप से अधीष्ठित होकर चिन्मयत्व से ओतप्रोत हो जाती है। इस अवस्था में समस्त इन्द्रिय शक्ति समूह संवित देवी का रूप धारण करने लगता है। संवित देवी अपने स्वरूप चैतन्य द्वारा साधक को आप्लावित करने लगती है। इस स्थिति में रूप तथा अरूप का ज्ञान असंख्य प्रकार से स्वबोध रूप में प्रकाशित होने लगता है।

सम्प्रदाय—अर्थात् सम्यक् प्रदान। जहाँ भगवान स्वयं को ही अपने स्वजनों को प्रदान कर रहे हैं। देने वाला तथा लेने वाला, दोनों ही एक हैं, तथापि दाता भगवान् की ओर से अभेद तथा ग्रहण कर्त्तास्वजन की ओर से भेद का आभास मिलता है। अतएव इस सम्प्रदान कृत्य में भेद तथा अभेद, दोनों का सम्बन्ध परिलक्षित होता है।

कौशल—गीता के अनुसार कर्म का सुकौशल ही योग है। "योगः कर्मसु कौशलम्।" मनुष्य का विचार प्रवाह मूलतः बहिर्मुखी प्रवृत्ति से आच्छादित है। जब यह धारा अन्तर्मुखी होने लगती है, तब सर्वत्र एक ही प्रकाश का भान होने लगता है। धारा को अन्तर्मुखी बनना ही कौशल है।

"आप्तकामस्य का स्पृहा"—आप्तकाम की क्रिया को कर्म नहीं कहा जा सकता। वह आप्तकाम के स्वातंत्र्य का उल्लास मात्र है। आप्तकाम की क्रिया को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निष्काम कर्म भी नहीं कह सकते। निष्काम कर्म के समय स्वभाव स्त्रोत के प्रवाह में आत्मा ही द्रष्टा है, तथापि यह वास्तविक द्रष्टत्व नहीं है। कारण इसमें एक शान्त तथा स्निग्ध आनन्द का आभास मिलता है। सर्वत्र एक गंभीर रस की अनुभूति होती है। साधक स्वगुरु की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मानने लगता है। उनका आनन्द ही साधक का आनन्द बन जाता है। यद्यपि यह निजस्व बोध रूपी कर्म सभी कर्म समूह से विलक्षण है, तथापि इसकी भी कर्म में ही गणना की जायेगी। कारण यह है कि इस समय भी चित्त में वासना विद्यमान रहती हैं। यदि वासना न होती, उस स्थिति में आनन्द का आस्वादन ही नहीं होता। यह आनन्द भी सीमित आनन्द है, अबाधित, अकुण्ठित भूमानन्दरूप कदापि नहीं है। आत्मदर्शन की स्थिति में मात्र आत्मा का अस्तित्व शेष रह जाता है। आत्मदर्शन के अनन्तर वासना की सत्ता ही विलीन हो जाती है। भोक्ता-भोग्य भाव का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसी कारण भोग रूपी रसास्वाद किसी एक सत्ता से आबद्ध नहीं रहता। आत्मदर्शी कर्ममुक्त हैं, अतः वहां पारतंत्र्य भी नहीं है। इस कारण आत्मदर्शी जो जिस रूप का भाव होता है, वह अपने आप में उस रूप के साथ क्रीड़ा करने लगता हैं। उसे सभी रूप अपना स्वरूप ही प्रतिभात होता है। वह सभी रूपों में स्वयं को लेकर ही क्रीड़ा करता है। अब वह एक ओर अभिन्न हैं, भिन्नतया परिलक्षित होने पर भी अभिन्न है, अपिच वह अभिन्न होकर भी भिन्नवत् है। इस क्रीड़ा में भी उसकी स्वरूप स्थिति अक्षुण्ण है। आचार्य उत्पलदेव कहते हैं :—

इति वा यस्य संवित्तिः, क्रीड़ात्वेनाखिलं जगत्।
य पश्यन् सततं युक्तः, जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

आत्मज्ञानी जीवन धारण करने पर भी मुक्त हैं। शरीर धारी होने पर भी जीवन्मुक्त है। आत्मदर्शन से पूर्व यह स्थिति प्राप्त होना असंभव हैं। आत्मदर्शन के पश्चात् अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः अभावपूर्ति नहीं होती। इस अवस्था में कर्म की संभावना का लेश भी नहीं रहता। लोक दृष्टि से आत्मज्ञानी कर्मरत लगता है, तथापि वह उसका कर्म नहीं है। उसके सभी कर्म चैतन्यशक्ति के विलास मात्र कहे जा सकते हैं।

मंत्र द्रष्टा—मंत्र का साक्षात्कार करने वाले ऋषि होते हैं। "ऋषयो मंत्र-द्रष्टारः"। ज्ञान की दो अवस्था शास्त्रों में वर्णित है—परोक्ष तथा अपरोक्ष। ज्ञान और ज्ञेय के मध्य के प्रतिबंधक को हटाना आवश्यक हैं। प्रतिबंधक हटने के अनन्तर ज्ञान स्वविषय को अपरोक्षानुभूति के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होता है। यह प्रतिबंधक भगवत्कृपा अथवा साधना से ही दूरीभूत हो सकता है। ज्ञान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनादि काल से आवरणाच्छन्न है। इसी के प्रभाववशात् देह, इन्द्रिय, प्राणधारा में विकृति आती है। साधना का प्रभाव इन विकारो को हटाकर देह, इन्द्रिय प्राण-धारा प्रभृति को स्वाभाविक गति प्रदान करता है। यद्यपि स्वाभाविक गति अभी भी प्रच्छन्नरूपेण विद्यमान है, तथापि इस प्रच्छन्नता को हटाना तथा प्रकृष्ट गति का संचार करना, यह साधना का कार्य कहा जाता है। यही स्वभाव की गति है। इस गति के परिणाम से समस्त ज्ञानावरण निवृत्त हो जाते हैं। विश्वसत्ता हस्तामलकवत् प्रतिभात होने लगती है। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी के समरसीकरण से अपरोक्ष महाज्ञान आविर्भूत हो उठता है। मंत्रसाक्षात्कार इसी महाज्ञान का एक प्रकारभेद है। इसे ऋषि अवस्था भी कहते हैं। ऋषिगण मंत्र का साक्षात्कार अपरोक्ष महाज्ञानाविर्भाव के द्वारा ही करते हैं। इस ज्ञान का आविर्भाव ही मंत्रद्रष्टत्व है।

मंत्र स्वरूप—मंत्र रहस्यमयता से ओतप्रोत विज्ञान है। इसके अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी अंश अविरुद्धरूप से प्रकट होकर मंत्र में मंत्रत्व का प्रकाश करते हैं। प्रथम है अहंकार। यह "त्वं" अथवा "अहं" रूप बोधाश्रय लेकर विद्यमान रहता है। द्वितीय अंश है चैतन्यमय शब्द। शब्द के साथ अहंकार का योग होने से मंत्र का प्रादुर्भाव होता है। शब्द का स्वरूप है स्वयंप्रकाशत्व। अहंकार का स्वरूप है प्रकृति से युक्तता। इन दोनों से सम्पृक्त अहंकार युक्त चैतन्यमय शब्द ही मंत्र है। मंत्र साधना से इस अहंकार का शमन हो जाता है। साधना संघर्ष से चिदग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इस अग्नि के प्रभाव से शब्द चैतन्य ज्योति का रूप धारण कर लेता है। अहंकार का योग रहने के कारण यह ज्योति भी साकार पिण्डरूप में आत्मप्रकाश करती है। अहंकार के कारण उस साकार पिण्ड में अभिमान का उदय होने लगता है। यहां स्मरणीय है कि मंत्रक्रिया भी मन की ही क्रीड़ा है। "मननात् त्रायते" मनन के द्वारा आत्मरक्षा का उदय होना ही मंत्र का स्वरूप है। यह शुद्ध मन का खेल है। अशुद्ध मन की क्रीड़ा मंत्रात्मिका नहीं होती। यहां यह ज्ञातव्य है कि शुद्ध मन भी बन्धन स्वरूप है, तथापि उपयोगी भी है। इस एक बन्धन को स्वीकार कर लेने पर जगत् के समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं। मंत्र रूपी शब्दों का साक्षात् सम्बन्ध ब्रह्मतत्वरूप अक्षर ब्रह्म से रहता है। मंत्र शक्ति अनन्त महाशक्ति की एक कणिका है। कणिका होने पर भी यह चिरन्तर तथा जाग्रत रूपा है। महाज्ञान से यह अभिन्न भी है। अखण्ड महासत्ता का एक अंश शब्दात्मक है। अपर अंश को शब्दातीत, नित्य एवं निर्विकार कहते हैं। समग्र जगत् इसके शब्दमय अंश (शब्द ब्रह्म) से ओतप्रोत है। शब्दमय अंश से बहिर्गत होने पर ही महाज्ञान में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। शब्द ब्रह्म तथा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शब्दातीत परब्रह्म का मिलित रूप ही अखण्ड महासत्ता रूप से प्रकाशित होता रहता है।

साधक की दृष्टि में शब्द में भी तारतम्य रूप क्रम विद्यमान है। जगत् प्रचलित भाषा का शब्द विकृत तथा जड़ शब्द है। इन शब्दों के प्रभाव से चित्त बाह्य जगत में विचरण करने लगता है। एतद्विपरीत ऐसे भी शब्द की सत्ता है, जो साधना के प्रभाव से शुद्ध वाक् रूप में प्रतिफलित हो रहा है। इसे संस्कृतशब्द अथवा संस्कृत वाणी कहते हैं। इसके प्रभाव से चित्त की विक्षिप्तता में ह्रास होने लगता हैं। अतः पुराकाल में ऋषियों ने अन्तर्मुखता के लिये संस्कार युक्त शब्द का आश्रय लिया था। मंत्रों के शब्द विकृत शब्द नहीं हैं। सर्वाधिक महिमा है निःशब्द अथवा शब्दातीत अवस्था की। अतः "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तुच्छिन्न संशयः" की उक्ति द्वारा इसी शब्दातीतावस्था का आभास प्रदान किया गया है।

ध्यानरूप— निराकार के उपासक रूप का ध्यान नहीं करते, तथापि उनके हृदय में स्वयमेव रुप भासित होने लगता है। रुप का ध्यान करना तथा ध्यान किये बिना ही स्वतः रुप का उदय होना, विभिन्न स्थिति के द्योतक हैं। सामान्यतः रुप का उदय इह जन्म अथवा पर जन्मों के संस्कारो के कारण ही होता है। योगियों के अनुसार विसर्ग शक्ति के प्रभाव से अरुप में रुप का उदय होता है। विसर्ग शक्ति अचिन्त्यलीला कारिणी है। आगम मतानुसार शांभव, शाक्त तथा आणवरुप विसर्गत्रय की स्थिति रहती है। आणवविसर्ग में भेद ज्ञान, शाक्त विसर्ग में भेद ज्ञान रहने पर भी किंचित् अभेदानुभव तथा शांभव विसर्ग में पूर्ण अभेदानुभव होता है। अतः अचिन्तित रुप का आविर्भाव होने पर भी साधक को उसका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। वे हृदय में जिस किसी भी रुप में प्रकट हों, वही सर्वमय भगवान का ही रुप है। जिस किसी भी रुप को पूर्णरुपेण आत्मीकृत कर सकने पर उसी में विश्वरुप का प्राकट्य हो जाता हैं। यहां तक की उसी में अरुप सत्ता भी साक्षात्कृत हो जाती है। कारण, भगवान रुपमय होने के साथ-साथ अरुप भी हैं। यह सत्य है कि सर्वत्र शिव की सत्ता विद्यमान है, अतः रुप में भी अरुप परमशिव का ही प्रकाशन होता रहता है।

साधन क्रम—

(१) स्वतः स्फुरित् रुप का आविर्भाव-अर्थात् बिना रुप चिन्तन किये, स्वतः किसी रुप का उदित होना।

(२) आसन पर आसीन हो इस स्वतः स्फूर्त रुप का चिन्तन, ध्यान। प्राण–प्रतिष्ठा इसे ही कहते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(३) इस रुप अथवा मूर्ति को कल्पित आधार (आसन) प्रदान करना।

(४) प्रणाम अर्थात् आत्मनिवेदन। मूर्ति अथवा रुप आसन पर विद्यमान है।

(५) तदनन्तर जप करना चाहिये। गुरु प्रदत्त मंत्र का जप।

(६) जप समाप्ति पर पुनः प्रणतिनिवेदन। जप निवेदन।

(७) तदनन्तर उस रुप अथवा मूर्ति को पुनः हृदय में नित्यप्रतिष्ठित रुप में सुरक्षित करना, यही विसर्जन है।

उपासना में आवाहन तथा विसर्जन रुप दो मुख्य अंग होते हैं। उपासना पूर्ण होने पर विसर्जन करना आवश्यक है। अर्थात् कार्यरुप इष्ट का कारणभूत जल में विसर्जन तथा आपश्यकता पड़ने पर पुनः उसे कारणभूत सलिल से बाहर लाना। अन्य मतावलम्बी आवाहन को स्वीकृति देने पर भी विसर्जन को स्वीकार नहीं करते। इष्ट का आविर्भाव काल के अन्तर्गत होता है, अतएव साधन साध्य होने के कारण आवाहन तो आवश्यक है, परन्तु प्रतिष्ठा स्थायी होती है। अतः विसर्जन करना उचित नहीं हैं। पहली मान्यता में ज्ञान प्रधान है। द्वितीय मान्यता भक्ति प्रधान है। भक्तिप्रधान साधना में इष्ट का तिरोधान कभी नहीं होता। ज्ञानप्रधान साधना में इष्ट विसर्जन द्वारा तिरोहित होकर आत्मरुप में प्रकाशित होते हैं।

अभ्यास—ध्यान सबके लिये साध्य हो ही नहीं सकता। पूर्व संस्कार तथा वर्त्तमान कर्म प्रभाव से ही ध्यानाधिकार प्राप्त हो सकता है। जिसका पूर्व संस्कार नहीं है, उसे प्राथमिक स्तर से ध्यानाभ्यास करना होगा। यह स्थिति कष्टसाध्य है। पूर्व संस्कार युक्त साधक किंचित् प्रयत्न द्वारा ही ध्यान में स्थित हो सकते हैं। पूर्व संस्कार का अभाव रहने पर कृपा अथवा दुष्कर प्रयत्न से ध्यानाधिकार प्राप्त हो जाता है। नवीन साधक के लिये अभ्यास अत्यन्त उपयोगी कृत्य है। ऐसे साधकों को ध्यान में आनन्द नहीं मिलता, आकर्षण बोध नहीं होता, तथापि कर्त्तव्य भावना के कारण ध्यान का प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान का पूर्व संस्कार न होने के कारण नवीन प्रयत्न अत्यन्त कष्टकर ज्ञात होता है। विक्षेप तथा चंचलता की अनादि कालीन स्थिति के कारण पूर्व संस्कार विहीन साधकों को ध्यान में आनन्द नहीं मिलता। इतने पर भी चेष्टा का त्याग नहीं करना चाहिये। चेष्टा से शक्ति का विकास होने लगता है। दृढ़ संकल्प के द्वारा आभ्यन्तर शक्ति का विकास होता है। क्रमशः संघर्षण तीव्रता कम होती जाती है तथा अभ्यास जनित नूतन कर्म संस्कार का संचय होते रहने से ध्यानाधिकार प्राप्त हो जाता है। नूतन कर्म संस्कार का एकत्रीकरण होते-होते ऐसी अवस्था का प्रादुर्भाव होता है, जब

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रतिकूल संस्कार तथा अनुकूल संस्कार की मात्रा समान हो जाती है, और वे समान बल होने के कारण एक दूसरे की प्रवृत्ति का रोध कर देते हैं। इस तटस्थ स्थिति में चित्त शून्यरूप हो जाता है। अब नित्यसिद्ध भगवत् कृपा का प्रक्षेपण होने लगता है। इस महाप्रवाह से साधक का मन एवं हृदय ओत-प्रोत हो उठता है। यही ध्यान सिद्धि का लक्षण है। इसे अभ्यास की चरम परिणति भी कह सकते है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हमारे अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन :-

1.	श्री कृष्णप्रसंग – म. म. डा. गोपीनाथ कविराज	30.00
2.	साधुदर्शन सत्प्रसंग - भाग प्रथम ,, ,,	15.00
3.	विजिज्ञासा- ,, ,,	15.00
4.	स्वप्नवासवदत्ता - स.हि.टीका – आचार्य जगदीशप्रसाद पाण्डेय	20.00
5.	मेघदूत – पूर्वमेघ :- प्रसंग, अन्वय, समास, कोश व विस्तृत हिन्दी, संस्कृत व्याख्यासहित गोस्वामी प्रह्लाद गिरी	10.00
6.	चन्द्रालोक - १-४ मयूख – हिन्दी सस्कृत व्याख्या सहित	15.00
7.	संस्कृत इंगलिश - इंगलिश संस्कृत शब्द कोष (विद्यार्थी संस्करण) - सी.जे. भट्टा चतुर्थी संस्करण	40.00
8.	साहित्यदर्पण -/ (लोचन व विज्ञप्रिया संस्कृत टीकाओं सहित)	150.00
9.	(नूतन) हिन्दी संस्कृत कोश - डा. नागेन्द्रप्रसाद पाण्डेय	15.00
10	बृहद्वकहडाचक्रम् – हिन्दी व्याख्योपेतम् मदनगोपाल बाजपेयी	5.00
11.	तर्कसंग्रह - पदकृत्य (गुटका)-पं रामगोविन्द शुक्ल	3.50
12.	सांख्यकारिका - गौड़पाद - हिन्दीटीकासहित – वैजनाथ पाण्डेय	5.00
13.	वेदान्तसार - सं.हि. व्याख्या सहित - पं. रामगोविन्द शुक्ल	5.00

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो. बाक्स 1108,
कचौड़ी गली,
वाराणसी,–1

1-यू.बी. जवाहर नगर,
बेंगलो रोड, दिल्ली–7

(भारत)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal